बुनियादी शिक्षा साहित्य ग्रन्थमाला—तृतीय मणि

बुनियादी शिक्षालय

का

संगठन और व्यवस्था

●

लेखक—

मिलापचन्द्र दुबे

प्रधानाचार्य, राजकीय बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय, सीहोर
भूतपूर्व सहायक संचालक, लोक-शिक्षण, मध्यप्रदेश
सहायक शिक्षा-संचालक, मध्यभारत
आचार्य, प्रशिक्षण-केन्द्र, मानपुर तथा मुरार

सदस्य :

मध्यप्रदेश राज्य बुनियादी शिक्षा परिषद्
माध्यमिक शिक्षा परिषद्, मध्यप्रदेश
कार्यकारिणी, अखिल भारतीय नई तालीम शिक्षक संघ,
पाठ्यक्रम समिति, परामर्शदात्री समिति तथा शिक्षा समिति

●

प्रकाशक—

गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा

प्राक्कथन

श्री मिलापचन्द्र दुबे ने 'बुनियादी विद्यालयों के संगठन तथा व्यवस्था' पर पुस्तक लिखकर बुनियादी शिक्षा के साहित्य की एक कमी को पूरा किया है, बुनियादी विद्यालयों के संगठन की कुछ समस्यायें तो अन्य विद्यालयों की समस्याओं के समान हैं, और कुछ समस्यायें विशिष्ट प्रकार की हैं। इस पुस्तक में श्री दुबे ने दोनों प्रकार की समस्याओं पर यथेष्ट चर्चा की है।

पुस्तक के आरम्भ में लेखक ने बुनियादी शिक्षा की विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख करके विद्यालयों के संगठन पर विचार किया है, बुनियादी विद्यालयों के सभी अङ्गों पर पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। प्रधानाध्यापक का कार्य, अच्छे शिक्षक की विशेषतायें तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा, वार्षिक कार्य योजना तथा समय विभाग-चक्र, अनुशासन तथा दण्ड और पुरस्कार, विभिन्न प्रवृत्तियाँ, प्रदर्शनी तथा उत्सव, विद्यालय और समाज सम्पर्क, शाला भवन तथा सामान, परीक्षा, मूल्यांकन तथा विद्यालय में रक्खे जाने वाले आलेख-अभिलेख आदि सभी विषयों पर लेखक ने विचार प्रकट किए हैं।

पुस्तक में बुनियादी विद्यालय के संगठन सम्बन्धी समस्याओं की व्यावहारिक अनुभव के आधार पर सोदाहरण व्याख्या की गई है। पुस्तक की शैली सरल, स्पष्ट, प्रभावशाली तथा रोचक है।

बुनियादी शिक्षा में अच्छे साहित्य की कमी है। इस दृष्टि से श्री दुबे का प्रयास प्रशंसनीय है।

नई दिल्ली
२०-८-५६

डा० परमेश्वरदीन शुक्ल
उप शिक्षा सलाहकार
भारत सरकार

आमुख

बुनियादी शिक्षा के विकास की वर्त्तमान स्थिति में हमारा सारा प्रयत्न बुनियादी शालाओं की सुचारु व्यवस्था पर केन्द्रित होना आवश्यक है। बुनियादी शिक्षा पर आवश्यकता से अधिक सैद्धान्तिक चर्चा हो चुकी है। यदि हम बुनियादी शिक्षा पर प्रकाशित सामग्री का सर्वेक्षण करें तो हमें पता चलेगा कि ऐसी सामग्री का अधिकांश भाग सिद्धान्तों के विवेचन तक ही सीमित है। इस समय प्रशासन की समस्याएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें बुनियादी शाला के प्रबन्ध तथा संगठन की समस्या मुख्य है। इसके समाधान में अनुभवी मस्तिष्कों का योगदान अपेक्षित है।

बुनियादी शाला के प्रबन्ध की पृष्ठभूमि में बुनियादी-शिक्षा-दर्शन का रहना आवश्यक है। इस दृष्टि से शाला-प्रबन्ध की समस्या नवीन तथा अनूठी हो जाती है। यही कारण है कि इस ओर अधिक प्रयास नहीं हुआ है। यह हर्ष की बात है कि श्री मिलापचन्द्र दुबे ने इस सामयिक आवश्यकता की ओर ध्यान दिया है।

हिन्दी भाषा में बुनियादी शिक्षा पर अच्छे साहित्य के सृजन में श्री दुबे का अपना स्थान है। उनकी प्रकाशित पुस्तकें उनके प्रौढ़ अनुभव, गम्भीर चिन्तन, पुष्ट विचार-शली तथा सुचारु लेखन-शैली की परिचायक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा उनका एक कदम आगे ही बढ़ा है।

श्री दुबे ने बुनियादी शाला के प्रबन्ध पर विवेचन करते समय बुनियादी शिक्षा के विशिष्ट सिद्धान्तों को उनकी स्वाभाविक पृष्ठभूमि में रखते हुए शाला-प्रबन्ध तथा संगठन के विभिन्न पहलुओं पर सजग दृष्टि रखी है; इसी कारण विषय-प्रतिपादन विस्तृत रूप से हो सका है। बुनियादी शाला के स्वरूप तथा उसके सामान्य क्रिया-कलापों के संगठन तथा संचालन से लेकर समय-विभाग-चक्र, शाला-भवन, अध्यापक तथा प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य, शाला की विभिन्न प्रवृत्तियाँ, उत्सवों तथा प्रदर्शनी आदि का आयोजन, वार्षिक

कार्य-योजना का निर्माण, परीक्षा तथा मूल्यांकन, आलेख व अभिलेख और समाज-सम्पर्क आदि समस्त विषयों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। इस अन्तरंग एवं वहिरंग दृष्टि के कारण विवेचन सन्तुलित तथा सांगोपांग बन गया है।

मुझे आशा है कि पुस्तक एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति करेगी, और प्रशिक्षण विद्यालयों के अध्यापकों एवं छात्रों और बुनियादी शाला के प्रबन्धकों तथा रुचि रखनेवाले अन्य सभी शिक्षा, प्रेमियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

नई दिल्ली
१४ अगस्त, १९५९

जे० के० शुक्ल
(डॉ० जे० के० शुक्ल)
संचालक
बुनियादी शिक्षा का राष्ट्रीय संस्थान
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

प्रस्तावना

बुनियादी शिक्षा साहित्य ग्रन्थमाला में पूर्व समर्पित दो पुस्तकें–(१) बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त तथा (२) समवायी शिक्षण को अपनाते हुए इस नई दिशा के कार्यकर्त्ता और शिक्षा-प्रेमियों ने यह इच्छा प्रगट की थी कि इसी क्रम में बुनियादी शिक्षालय संगठन पर एक पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता है। पूर्व प्रयास के प्रोत्साहन से साहस पाकर इस आवश्यकता-पूर्त्ति के उद्देश्य से यह तीसरी पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है।

बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य नया मानव और उसके द्वारा नव-समाज निर्माण है। शिक्षा की इस नवीन दिशा पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष के द्वारा शिक्षा देने के सिद्धान्त को बुनियादी शिक्षा ने मूल प्रधानता दी है। इसीलिए शिक्षा-योजना में उत्पादक हस्त-उद्योग को शिक्षा का केन्द्र मानकर सामाजिक तथा प्राकृतिक वातावरण के माध्यम से जीवनोपयोगी शिक्षा देकर तथा शिक्षालयों को अधिकाधिक सामाजिक रूप देते हुए सामाजिक सम्पर्क की भावना को उत्प्रेरित कर शिक्षा के समाजीकरण के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गई है। इसीको इस योजना की विशेषता या उसका नयापन कहा जा सकता है। अतएव शिक्षालय-संगठन का सम्बन्ध उन समस्त व्यवस्थाओं से है, जिनसे बालकों को उचित शिक्षा, उचित शिक्षकों द्वारा, उचित ढंग से, उचित वातावरण और व्यवस्था में प्राप्त हो सके, जो देश की अर्थ-नीति और समाज-नीति के अनुकूल हो। इसके द्वारा बालकों की सुषुप्त शक्तियाँ जाग्रत होकर उनकी चतुर्मुखी प्रगति द्वारा उनके सम्पूर्ण, सुसमंजसित एवं सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण हो, जिससे वे अपने व्यक्तिगत विकास के साथ समाज में भी अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकें।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए, जैसा शिक्षा-योजना में परिवर्तन हुआ है, उसीके अनुरूप शिक्षण-पद्धति, शिक्षालय-संगठन और व्यवस्था में भी परिवर्तन वाञ्छनीय है। इसी परिवर्तन की आवश्यकता और इसकी

रूपरेखा से परिचित कराने के उद्देश्य से इस पुस्तक का प्रणयन किया गया है। उद्देश्य-पूर्ति में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई इसका निर्णय तो स्वयं पाठक ही करेंगे, जिन्होंने पूर्व कृतियों को अपनाकर सहृदयता का परिचय देते हुए अनुग्रहीत किया है। यदि प्रस्तुत पुस्तक वांच्छित उद्देश्य की पूर्ति कर सकी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

मैं उन समस्त लेखकों और विचारकों का आभारी हूँ, जिनकी कृतियों द्वारा प्रकाश और मार्गदर्शन प्राप्त हो सका है। पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से शिक्षा-प्रेमियों और कार्यकर्त्ताओं द्वारा जो भी रचनात्मक सुझाव प्राप्त होंगे उनका कृतज्ञतापूर्ण स्वागत होगा।

(सर्वोदय-दिवस)
वसन्त पंचमी
१२ फरवरी १९५९

मिलापचन्द्र दुबे

अनुक्रमणिका

जनवरी सन् १९५६ में केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा प्रदर्शिनी में मध्यभारत द्वारा प्रदर्शित स्टॉल का प० नेहरू ध्यानपूर्वक अवलोकन कर रहे हैं। दाहिनी ओर पुस्तक के लेखक मध्यभारत की ओर से भेजे गये प्रतिनिधि के रूप में खड़े हैं।

बुनियादी शिक्षा की संकल्पना

भारतवर्ष में बुनियादी शिक्षा का आरम्भ हुए लगभग २० वर्ष हो चुके हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इसके प्रयोग होते आ रहे हैं किन्तु अब भी भिन्न-भिन्न प्रकार से इसका अर्थ लगाया जा रहा है और अनेक प्रकार की भ्रमात्मक धारणाएँ और कल्पनाएँ हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि इसके अर्थ को स्पष्ट रूप से समझ लिया जाय। मूल सिद्धान्त के रूप में यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इसका आधार वही है जोकि बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा समिति की रिपोर्ट में इसके पारिभाषिक रूप में दिया गया है और जिसका स्पष्टीकरण शिक्षा की केन्द्रीय परामर्श दात्री समिति द्वारा किया गया है।

प्रत्येक शिक्षा योजना के पीछे राष्ट्र निर्माण की एक प्रधान कल्पना रहती है। राष्ट्र को बनाने का साधन शिक्षा ही है। देश की परतन्त्रता के युग में शिक्षा को केन्द्रित किया जाकर शिक्षा का उद्देश्य सार्वजनिक शिक्षा द्वारा समाज निर्माण न होकर केवल शासन की आवश्यकता पूर्ति हेतु उसे अपने नियंत्रण में लिया गया और इस प्रकार से देश भर में बिखरे हुए स्वतन्त्र रूप से स्वयं प्रेरित एवं स्वयं संचालित शिक्षालयों का अस्तित्व मिट गया। शिक्षा बहु व्ययसाध्य होकर एक वर्ग- विशेष तक ही सीमित हो गई और राष्ट्रीय जनसंख्या को दो भागों में विभाजित कर दिया, एक को केवल बुद्धि का ही काम व श्रम से ऊपर और दूसरे को श्रम ही का काम और बुद्धि को विश्राम। इस प्रकार बुद्धि और श्रम के सुमेल से सम्पूर्ण मानवता का विकास न हो सका। मानव की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का समुचित सामंजस्यपूर्ण सहयोग न होने से मानव के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण समतौल तथा समन्वित विकास न हो सका। इसीलिए इस शिक्षा योजना द्वारा नये मानव और मानव द्वारा नये समाज के निर्माण की कल्पना है। इसका उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है, जिसमें न तो शोषण हो, और न हिंसा। समानता, सहयोग और प्रेम की भावना के साथ-साथ

रहना सीखें। इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षार्थी बिना किसी सामाजिक या धार्मिक भेद-भाव के उत्पादन बढ़ानेवाले रचनात्मक तथा समाजोपयोगी कार्यों में हाथ बटावें।

१. शिक्षा के क्षेत्र में समाज व व्यक्ति का सम्बन्ध.—क्या व्यक्तिगत क्षेत्र में और क्या सामाजिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु यह नियम निर्विवाद रूप से सत्य है कि अधिक से अधिक स्वावलम्बन, कम से कम परावम्बन तथा आवश्यकताओं के अनुसार परस्परावलम्बन व्यक्तिगत विशेषताओं के विकास के साथ सामाजिक जीवन को सुदृढ़ बनाने का भी पुष्टिकारक साधन है। समाज तथा व्यक्ति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जहाँ शिक्षा को समष्टि के विकास से पृथक् कर केवल व्यष्टि के ही विकास का साधन मान लेते हैं वहाँ यह सिद्धान्त समाजशास्त्र तथा शिक्षा शास्त्र दोनों के ही प्रतिकूल हो जाता है, क्योंकि एक ओर जहां समाज तथा व्यक्ति के विकास का सामंजस्य नहीं होता वहां दूसरी और सामाजिक शून्यता में व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता। समाज, व्यक्तियों का बना हुआ है, उसका विकसित रूप भी व्यक्तियों के विकास के ही अनुरूप होगा। व्यक्ति में जो विकास हुआ है वह समाज के सम्पर्क की ही देन है। मनुष्य अपनी आनुवंशिक परम्परा लेकर जन्म लेता है और सामाजिक परम्परा में विकास पाता है। अतः व्यक्ति व समाज दोनों ही के विकास का पारस्परिक सम्बन्ध है। इसी दृष्टि से शिक्षा का यह उद्देश्य मान्य हो गया है कि प्रत्येक मनुष्य को समाज में रह कर अपनी विशेषताओं को विकसित कर समाजोपयोगी बनाना चाहिये। इस उद्देश्य में भौतिकवादी, यथार्थवादी और आदर्शवादी तीनों विचारधाराओं का समन्वय हो जाता है। उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्त्ति को ध्यान में रखते हुए पाठशाला को समाज का ही एक रूप दिया जाना आज के शिक्षाविशेषज्ञों ने मान्य किया है। सामाजिक प्रवृत्तियों में भाग लेते हुए अपने अनुभवों का पुनर्निर्माण करते रहना ही शिक्षा का कार्य माना गया है।

राष्ट्रपिता बापू ने इसी व्यक्ति तथा समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पर आधारित जीवन दर्शन के तत्त्वों पर दृष्टिपात करते हुए व्यक्ति के अस्तित्व तथा उसके विकास की स्वतन्त्रता को स्थिर रखते हुए व्यक्ति के उत्थान को समष्टि के उत्थान में लय किया था। जीवन अनन्त है। मनुष्य मर्त्य है और समाज अमर है। अतः मानव को अमरता प्राप्त करने का साधन समाज के विकास तथा उत्थान द्वारा समाज की अमरता में योग दान देना ही है। इसी पारस्परिक

सम्बन्ध के कारण मनुष्य में व्यक्तिगत तथा समष्टिगत दोनों प्रकार की भावनाएँ स्वहिताय तथा जनहिताय काम करती रहती हैं। एक का प्राबल्य होने पर वह स्वार्थी और दूसरे का प्राबल्य होने पर परमार्थी कहलाने लगता है। इन दोनों का समन्वय होने पर उसके समतौल सुसमंजसित सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होता है। विनोबा इसी को अपनी भाषा में कहते हैं कि स्वार्थ के आटे को परार्थ के नमक से सलोना कर लेना चाहिये। कविवर प्रसाद ने भी अपने चन्द्रगुप्त नाटक में एक सुन्दर सूक्ति द्वारा इसी विचार का पोषण किया है कि मनुष्य साधारण धर्मा पशु है। कर्त्तव्य करने से वह मनुष्य और निःस्वार्थ सेवा करने से वह देवता हो जाता है। अतएव मनुष्य को यह देवत्व प्राप्त करने हेतु सामाजिक जीवन की नितान्त आवश्यकता है। शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक जीवन की प्रधानता द्वारा ही विकसित मानव और श्रेष्ठ समाज का निर्माण हो सकता है। शिक्षा जब जीवन-व्यापी मान ली गई है तब जीवन दर्शन के ही आधार पर शिक्षा योजना का निर्माण निश्चित है, क्योंकि जीवन दर्शन का क्रियात्मक रूप ही शिक्षा है।

अतः उपरोक्त विचारों की पृष्ठ भूमि पर अब बुनियादी शिक्षा पर विचार किया जावेगा।

२. **शिक्षा तथा जीवन.**—बुनियादी शिक्षा के एक सूत्र में इसको जीवन की शिक्षा जीवन द्वारा तथा जीवन के लिए कहा गया है। यह सूत्र इसकी व्यापकता पर पूरा प्रकाश डालता है। इस सूत्र में ही इस योजना के सम्पूर्ण तत्व निहित हैं, जो इसके उद्देश्य, शिक्षा वस्तु तथा पद्धति पर प्रकाश डालते हैं। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य जीवन के लिए शिक्षा है, शिक्षा की वस्तु जीवन की शिक्षा है और शिक्षा की पद्धति जीवन द्वारा शिक्षा है। अब बुनियादी शिक्षा का क्षेत्र गांधीजी की भाषा में माता के पेट में गर्भाधान से लेकर मृत्यु के अन्तिम क्षण तक है। अन्य शिक्षाशास्त्रियों ने भी अपनी-अपनी भाषा में भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ ये ही विचार स्वीकार किए हैं कि शिक्षा का क्षेत्र गर्भ से मृत्यु तक अथवा पालने से कब्र तक यानी जीवन की प्रथम सांस से अन्तिम सांस तक है। इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षा मानव जीवन के प्रत्येक कोने से सम्बन्धित है। इसको केवल शाला के कुछ समय की सीमा में नहीं बांधा जा सकता और न इसे जीवन के किसी क्षेत्र से पृथक् ही किया जा सकता है।

३. **शासन यंत्र और उत्पादन यंत्र के विकेन्द्रीकरण में शिक्षा का योगदान.**—सामाजिक जीवन के क्रमिक विकास पर भी दृष्टि डालने के लिए पुराने इतिहास के पृष्ठों को पलटना होगा। मानव इतिहास के आदिकाल से ही मनुष्य अपने को जीवित रखने की चेष्टा करना ही प्रमुख काम समझता आया है और अपने अस्तित्व को स्थित रखना ही प्रकृति का सामान्य नियम और प्राणिमात्र की मूल प्रवृत्ति रही है। इसी अस्तित्व को कायम रखने के प्रयत्न में समाज संचालन के हेतु शक्ति का संग्रह एक ही व्यति में केन्द्रित किया जाकर केन्द्रवाद की नींव पड़ी, किन्तु जिस हिंसा को केन्द्रीय शक्ति द्वारा सीमित करना चाहते थे वही शोषण के रूप में अधिकाधिक फैलने लगी, जिसके परिणामस्वरूप उस सत्ता को फिर से समाज में हस्तान्तरित करने का निश्चित किया। इसी को राजनैतिक भाषा में लोकतंत्र कहते हैं। केन्द्र वर्ग ने अपनी रक्षा के लिए सदियों से संचित साधन और शक्ति का लोकतंत्र को दबानेमें उपयोग किया और कहीं सफलता मिली तथा कहीं असफलता।

४. **अनिवार्य शिक्षा तथा उसका माध्यम:**—इस राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत आठ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा तथा मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने पर अब कोई मतभेद शेष नहीं रह गया है। प्राय: सब ही शिक्षाशास्त्रियों एवं शिक्षाविशेषज्ञों को यह सिद्धान्त मान्य है, क्योंकि लोकतन्त्र की सफलता के लिए एक निश्चित परिमाण में राष्ट्र के प्रत्येक घटक की प्रारम्भिक शिक्षा हो जाना अनिवार्य है और उसका प्रबन्ध करना भी उसी समाज का कर्त्तव्य है। इसी प्रकार मातृभाषा के सिद्धान्त को भी सर्वमान्य किया गया हैं, क्योंकि बोलने तथा विचारने की भाषा भी मनोवैज्ञानिक आधार पर एक ही होना चाहिये, अन्यथा प्राप्त ज्ञान अस्थायी रहता है और हमारे मानसिक संस्थान का अंग नहीं बन पाता। मातृभाषा द्वारा समय की बचत के साथ ही साथ हमारी मानसिक शक्ति का भी अकारण अपव्यय नहीं होता। इस योजना में राष्ट्रभाषा के अध्यक्ष को भी स्थान देकर राष्ट्रीय अखंडता को अक्षुण्ण रखने की भावना की पुष्टि की है। भाषा जब भावों की वाहन मानी गई है तब सभ्यता और संस्कृति का साहित्य भी उसी भाषा में उसके शुद्ध रूप से रह सकता है जिस भाषा को जनसाधारण प्रयोग में लाते हैं।

अतएव इन सर्वमान्य सिद्धान्तों के आधार पर उपरोक्त सिद्धान्तों में कोई मतभेद न रहकर सर्वमान्य हो चुके हैं।

५. **मूलोद्योग**.—इस योजना के दूसरे बिन्दु जिस पर अनेक प्रकार की धारणाएँ हैं, अवश्य विचारणीय है और उनका स्पष्टीकरण किया जाकर यथोचित महत्त्व दिया जाना आवश्यक है।

गांधीजी ने जैसाकि इसका विवेचन किया है कि बुनियादी शिक्षा जीवन की शिक्षा है और जो केवल जीवन के द्वारा ही दी जाना है उसका उद्देश्य शोषण-हीन और अहिंसात्मक समाज की रचना है। यही कारण है कि बुनियादी शिक्षा की सम्पूर्ण रचना का केन्द्रबिन्दु एक उत्पादक रचनात्मक, समाजोपयोगी क्रियात्मक काम है, जिसमें बालक तथा बालिकाएँ जाति तथा वर्ग भेद को छोड़कर समानता से भाग लें।

बालकों के इस स्तर पर मूलोद्योग का शिक्षण शिक्षा का एक आवश्यक अंग हो जाता है, क्योंकि उत्पादक कार्य ठीक-ठीक परिस्थितियों में उचित रूप से किया जाय तो वह प्राप्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कार्य के द्वारा न केवल एक मूर्तिमान और वास्तविक रूप देता है वरन् वह चरित्र और व्यक्तित्व के निर्माण का एक शक्तिशाली साधन है तथा समाजोपयोगी काम के प्रति प्रेम और श्रद्धा का भाव जाग्रत करता है। यह भी स्पष्टतया समझने की बात है कि मूल उद्योग की उत्पादन आय से पाठशाला के संचालन व्यय के कुछ अंग की पूर्त्ति होगी या बालकों को शाला समय में दिये जानेवाले मध्यम भोजन की व्यवस्था में उपयोग में लाया जा सकेगा अथवा पाठशाला में फर्नीचर आदि की व्यवस्था की पूर्त्ति में सहायक हो सकेगा।

इस योजना में उद्योग के सम्बन्ध में मतभेद हैं। इस लिए यह आवश्यक है कि यह समझ लिया जाय कि बुनियादी शिक्षा का मूल उद्देश्य बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास है और इसी के अन्तर्गत बालक की उत्पादन करने की योग्यता भी समाविष्ट है। जोकिरहुसैन कमेटी की रिपोर्ट में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि उत्पादक कार्य द्वारा शिक्षा देने के सिद्धान्त को सब शिक्षा-शास्त्रियों ने प्रधानता प्रदान की है। यह पद्धति बालक के शरीर, मस्तिष्क तथा हाथों के कार्यों का समन्वय कर सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा तथा उसके द्वारा सन्तुलित सुसमंजसित विकास करने का उत्तम साधन है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बालक को केवल पुस्तकीय शिक्षा के स्थान पर बौद्धिक तथा व्यावहारिक शिक्षा का सन्तुलन कर ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा सजीव बनाती है। सामाजिक दृष्टि से भी बुद्धिजीवी तथा श्रमजीवियों के बीच की खाई को

को पटाने का काम करती है। श्रम में गौरव और सेवा में आनन्द के साथ काम करने में सहयोगी सामाजिक जीवन का प्रत्यक्ष पाठ पढ़ाती है।

६. **उद्योग का चुनाव.**—उद्योग का चुनाव करने में मूल सिद्धान्त के साथ इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि जो उद्योग चुना जावे उसमें उसकी क्रियाओं के समवाय द्वारा शिक्षण की पर्याप्त स्वाभाविक संभावनाएँ हों, जिनका सम्बन्ध मनुष्य जीवन की क्रियाओं और रुचियों से हों, जिनका विस्तार शाला के सम्पूर्ण शिक्षा के क्रम में क्रमिक विकास के रूप में फैला हुआ हो। इसका उद्देश्य यांत्रिक रूप से कार्य करनेवाले कारीगर बनाने का नहीं है वरन् उद्योग में जो क्रियाएँ निहित हैं उनका उपयोग बालक के शिक्षण में किया जाना ही उसका प्राथमिक उद्देश्य है।

मूल उद्योग के चुनाव में भी, जिसका समन्वय शाला के कार्य के साथ होता है, हमको एक उदार दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। प्राय: ऐसे उद्योगों को स्थान देना चाहिये जो बौद्धिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी महत्त्वशाली हो और ज्ञान तथा व्यावहारिक कुशलता के क्रमिक विकास का अवसर प्रदान करे। वह उद्योग ऐसा हो जो शाला के प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के अनुकूल हो और जिसमें अधिक से अधिक शैक्षणिक संभावनाएँ हों। यह विचार-धारा कि एक स्कूल में केवल एक उद्योग का उदाहरणार्थ कताई आदि का समावेश करदेना मात्र ही उसको बेसिक स्कूल का रूप दे देना है अत्यन्त भ्रमात्मक है और बुनियादी शिक्षा के प्रति एक घोर अन्याय है।

७. **उद्योग द्वारा उत्पादन और शिक्षा.**—इस जाँच के लिए कि मूल उद्योग का शिक्षण कुशलता तथा सफलता के साथ किया जा रहा है और शैक्षणिक संभावनाओं का समुचित उपयोग किया जा रहा है इस बात पर जोर दिया जाना चाहिये कि जिन वस्तुओं का निर्माण हो वह इतनी अच्छी हों जितनी अच्छी उस उम्र तथा उस स्तर के बालक बना सकते हों, सामाजिक उपयोग की हो और आवश्यकताओं के अनुसार बेची भी जा सकती हो। इसलिए यह भी आवश्यक है कि उत्पादन योजना में केवल प्रदर्शनी की वस्तुओं की अपेक्षा उन वस्तुओं को प्रधानता दीजाय जो शाला केही तात्कालिक उपयोग की हो और जिनका निर्माण उस स्तर के बालक कर भी सकते हैं। दूसरा स्थान उन वस्तुओं को दिया जाना चाहिये जिनको आवश्यकता तथा उपयोग की दृष्टि से सरकार भी

खरीद कर सकती है तथा तीसरा स्थान उन वस्तुओं को दिया जाना चाहिये जो स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर सके। यह उत्पादित सामग्री के बेचने की समस्या किन्हीं अंशों में पूर्ण कर सकेगा। गांधीजी ने इसीलिए कहा था कि स्वावलम्बन मेरी योजना की तेजाबी जांच है। इसका तात्पर्य यही था कि यदि शिक्षण उचित ढंग से किया जा रहा है तो अवश्य उत्पादित वस्तुओं का निर्माण अच्छा होगा और यदि उत्पादित वस्तुएं अच्छी निर्मित हो रही है तो उसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि उससे सम्बन्धित शिक्षा के प्रत्येक अंग पर समुचित ध्यान दिया गया है। कार्य की कुशलता से बुद्धि का विकास होता है और बुद्धि के विकास से कार्य में कुशलता आती है। कार्य और बुद्धि का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसीलिए इस योजना में कार्य को बुद्धि का वाहन माना गया है और एक छोटे से सूत्र में बुनियादी शिक्षा को कार्य के द्वारा बुद्धि की साधना कहा गया है। ज्ञान का विपाक कर्म में होता है तथा कर्म ज्ञान का स्रोत है। कर्म और ज्ञान जीवन में ताने-बाने की तरह बुने हुए हैं, जो जीवन को समग्रता तथा परिपक्वता प्रदान करते हैं।

कार्य में कुशलता प्राप्त करना और अच्छे कार्य के लिए प्रेम तथा श्रद्धा उत्पन्न होना अधिक गहन गम्भीर शैक्षणिक महत्त्व रखते हैं बनिस्बत इसके कि बालक कच्चे सामान तथा सरंजाम के साथ किसी उपयोगी वस्तु का निर्माण न करते हुए केवल खेलते ही रहे जैसा कि प्राय: क्रियात्मक स्कूलों में हुआ करता है। इस उत्पादन के पहलू को इतना पीछे डाल देना भी उचित नहीं जैसा कि अभी तक किया गया है, क्योंकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यदि उद्योग का कुशलतापूर्वक व्यावहारिक अभ्यास किया जाय तो वह निस्सन्देह बालक का सर्वतोमुखी विकास करने का साधन है। वह बालक के समक्ष योग्यता प्राप्ति के उच्च आदर्श रखता है और उनकी उचित आदतों, रुचियों और दृष्टिकोणों के निर्माण का अवसर देता है, उदाहरणार्थ प्राप्त ज्ञान का उपयोग, एकाग्रता, धैर्य और कुशल योजना।

इस स्तर पर उत्पादन के निश्चित परिमाण नियत करना अवश्य किया जाना चाहिये। इस बात का पूरा ध्यान रखते हुए कि उसकी शैक्षणिक उपयोगिता के अन्तर्गत जो उद्देश्य निहित हैं उनसे किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता न होने पाये। जूनियर बेसिक स्कूलों की उच्च कक्षाओं में तथा सीनियर बेसिक

स्कूलों में सम्भवत: यह निश्चित परिमाण नियत करना इतना कठिन न होगा। इसलिए भिन्न-भिन्न राज्यों की शाला में किये गये प्रयोग के अनुभवों के आधार पर इनको निर्धारित किया जा सकता है।

८. **समवाय.**—बुनियादी शिक्षा में, जैसा कि किसी भी अच्छी शिक्षा की योजना में होना चाहिये, इस बात पर जोर दिया गया है कि ज्ञान का सम्बन्ध व्यावहारिक अनुभव तथा निरीक्षण से होना चाहिये अर्थात् सजीव ज्ञान प्राप्ति के ३ सोपान--निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग होने चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के हेतु बुनियादी शिक्षा की योजना में यह स्पष्ट रूप से निहित है कि शिक्षा-क्रम के विषयों का सम्बन्ध शिक्षा के इन तीनों केन्द्रों--उद्योग, सामाजिक वातावरण तथा प्राकृतिक वातावरण—से होना चाहिए। उद्योग, समाज तथा प्रकृति को ज़ोड़ने की बीच की कड़ी है। संसार में प्रत्येक सनुष्य जीवनोपयोगी साधनों की उपलब्धि में, उत्पादन में तथा वितरण में लगा हुआ है इस दृष्टि से प्रत्येक जीवनोपयोगी वस्तु की प्राप्ति के हेतु प्रकृति की ओर देखना पड़ता है और उद्योग उसको समाजोपयोगी बनाकर उसका सम्बन्ध समाज से जोड़ देता है। इस प्रकार उद्योग दोनों केन्द्रों को जोड़ने की मध्यम कड़ी है, किन्तु यह कार्य केवल यांत्रिक न होते हुए समझदारी के साथ होना चाहिये जैसाकि विनोबा कहते हैं। जहां केवल कर्म-बुद्धि से काम होता है वह कारखाना है और जहां ज्ञान-बुद्धि से काम होता है वह स्कूल है। इसलिए, कार्य के साथ ज्ञान-बुद्धि की आवश्यकता है। इसी को बुनियादी शिक्षा की शास्त्रीय भाषा में समवाय कहते हैं। बुनियादी शाला के शिक्षकों को इस योजना को सफल बनाने में चतुर्मुखी विकास के साथ पर्याप्त सूझ-बूझ की आवश्यकता है। अतएव अच्छे प्रशिक्षित और समझदार शिक्षक में अधिक से अधिक ज्ञान हो जिसको वह देना चाहता है। इन तीनों केन्द्रों से सम्बन्धित करने की योग्यता होनी चाहिये। शिक्षक के स्वरूप के सम्बन्ध में सूत्र रूप में यही कहा जा सकता है कि उसमें विद्यार्थी की वृत्ति, माता का स्नेह, किसान का उद्योग, वैज्ञानिक की सूझ-बूझ, कलाकार की अनुभूति, और तपस्वी की लगन की आवश्यकता है। यदि यह कार्य नहीं किया जा सकता तो इसका यही तात्पर्य हो सकता है कि या तो शिक्षक में ही समुचित योग्यता नहीं है या शिक्षा-क्रम के ही अन्तर्गत ऐसी वस्तु का समावेश किया गया है जो इस अवस्था पर वास्तविक महत्त्व और उपयोग नहीं रखती है। यह भी मानना चाहिये कि ज्ञान का

कुछ अंग ऐसा भी हो सकता है जो इन तीनों केन्द्रों में से किसी से भी सम्बन्धित नहीं किया जा सकता हो, ऐसी दशा में ऐसे अंग को किसी अन्य अच्छे स्कूल की पद्धति से ही पढा दिए जाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इसका भी अर्थ यही है कि रुचि प्रेरणा, और अभिव्यक्ति आदि शिक्षण के सर्वमान्य सिद्धान्तों का उसमें भी उपयोग किया जायगा। कुछ भी हो, समवाय के नाम पर अस्वाभाविक लादे गए सम्बन्धों को सावधानी से बचाये जाने की आवश्यकता है।

शिक्षालय व्यवस्था में परिवर्तन क्यों ?

बुनियादी शिक्षा योजना के साथ शिक्षा की इस नई दिशा में एक नया मोड आया है। आज तक की शिक्षा जो केवल पुस्तक केन्द्रित मानी जाती थी वह अब उद्योग केन्द्रित अथवा कार्य केन्द्रित मानी जाने लगी है जिसमें शिक्षार्थियों की न केवल मानसिक शक्ति का ही उपयोग और विकास होगा वरन् कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग किया जाकर उनकी समस्त शक्तियों का सुसमंजसित एवं सन्तुलित विकास होगा। इस नवीन योजना पर दृष्टिपात करने से दो मूल बातें स्पष्ट होती हैं जिनको योजना की नवीनता कहा जा सकता है। एक तो शिक्षा योजना को उद्योग केन्द्रित बनाया जाना और दूसरा शिक्षा का समाजीकरण। इन दोनों नवीन परिवर्तनों के कारण शिक्षालय व्यवस्था में भी पर्याप्त परिवर्तनों की आवश्यकता होगी। इसी का स्पष्टीकरण निम्नलिखित पंक्तियों की परिधि में किया जा रहा है।

शिक्षा में उद्योग को जोड़ देना एक बात है और उद्योग को ही शिक्षा का माध्यम बना देना दूसरी बात है। पहली योजना में शिक्षा और उद्योग की प्रक्रियाएँ पृथक्-पृथक् चलती रह सकती हैं किन्तु दूसरी योजना में उद्योग की प्रक्रियाएँ ही ज्ञान का वाहन होंगी। समस्त दिया जानेवाला ज्ञान इन्हीं प्रक्रियाओं पर आधारित रहेगा। क्रिया द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त को समस्त शिक्षाविशेषज्ञों ने मान्यता प्रदान की है किन्तु नई-तालीम की नवीनता यही है कि इसमें कृत्रिम क्रियाओं के स्थान पर जीवन की सउद्देश्य इकाइयों को ही चुना गया है और उन्हीं के आधार पर शिक्षा दिये जाने की कल्पना की गई है। उद्योग के साथ न केवल उद्योग मात्र की क्रियाओं की ही कल्पना है वरन् उद्योग को प्रकृति और समाज को जोड़नेवाली बीच की कड़ी मान-कर उसका विस्तार प्रकृति और समाज तक फैल गया है। इस प्रकार प्रकृति, उद्योग और समाज शिक्षा की प्रस्थानत्रयी के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इसका तात्पर्य यही हुआ कि शिक्षा शाला की चहार दीवारी के भीतर तक ही सीमित न रहकर प्रकृति और सारे समाज तक फैलकर उस क्षेत्र को भी

अपने अध्ययन के क्षेत्र में आबद्ध कर लेगी। उद्योगों के समावेश के साथ कक्षा व्यवस्था, उद्योग-कक्ष व्यवस्था, अध्यापन तथा अध्यापन की व्यवस्था, कार्य का लेखा जोखा, मूल्यांकन-समीक्षा आदि सब में ही हेर फेर की व्यवस्था होगी, जिसकी आवश्यकता केवल पुस्तक-केन्द्रित शिक्षा-पद्धति में न होती।

उद्योग में से भी उत्पादक उद्योग को प्रमुख स्थान दिया गया है जो कि बालक के प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के अनुकूल चुना गया हो। उत्पादन को बालक के उद्योग कार्यों में सफलता की कसौटी माना गया यदि उत्पादन ठीक हुआ है तो उद्योग की प्रक्रियाएँ ठीक की गई हैं और उनपर आधारित ज्ञान भी ठीक-ठीक प्राप्त हुआ है। कर्म और ज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध माना गया है। ज्ञान से कर्म में कुशलता और कर्म में ज्ञान का परिपाक होता है इस सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। इस दृष्टि से सोद्देश्य कार्यों की तथा उनपर आधारित ज्ञान को दिये जाने की योजना बनाना होगी और उन कार्यों का पूरा लेखा जोखा भी रखना होगा। शाला की कक्ष तक ही शिक्षा को सीमित न रखा जाकर प्रकृति और प्रकृति और समाज के प्रत्येक सम्पर्क में लाना आवश्यक होगा।

दूसरी विचारणीय बात है शिक्षा के समाजीकरण की। शिक्षा को वातावरण के अनुकूल बनाने की कल्पना के साथ शाला, घर और समाज का सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक हो जाता है। इसी के साथ शिक्षक, शिक्षार्थी और पालकों के सम्बन्ध जोड़ने की बात जुड़ी हुई है। एक ओर जहां शिक्षण-सिद्धान्तानुसार प्रत्यक्ष के द्वारा शिक्षा देने की बात को मान्यता दी गई है वहां कार्य द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त को तो सब ने मान ही लिया है किन्तु अभी भी शिक्षा के समाजीकरण की कल्पना का स्पष्ट चित्र सब के सामने नहीं है। जान डयर्क के सिद्धान्तानुसार भी समाज की समस्त प्रवृत्तियों में भाग लेते हुए, अपने अनुभवों का पुनर्गठन करना ही शिक्षा माना गया है। इसका मतलब यही होता है कि शाला और समाज का निकट सम्पर्क हो और शाला के कार्यक्रमों में समाज की प्रवृत्तियां प्रतिबिम्बित हों। शाला समाज का ही लघु रूप होकर सामाजिक शिक्षण की प्रत्यक्ष प्रयोगशाला हो। इस दृष्टि को लेकर शाला का संगठन एक समाज के ही रूप में करना होगा जिससे शिक्षार्थी इस सामाजिक ज्ञान की प्रयोगशाला में अपने ज्ञान को आचरण में परिणत कर उसे अपनी स्थायी संस्कृति का अंग बना सके। आचार्य विनोबा ने

इसीलिये अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि बालक घर में जीता है और शाला में सीखता है। उसके विचारों का उसके आचरण से सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता है और जीवन और विचारों का मेल नहीं बैठता है। इस प्रकार विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचारशून्य बन जाता है। उपाय इसका यही है कि एक ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिये और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिये। समाज शास्त्रों को चाहिये कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण शास्त्र को चाहिये कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे। इस प्रकार यदि शिक्षालय को समाज का प्रतिनिधित्व करना है तो यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को विद्यालय में वही वातावरण मिले जो उसे समाज में मिल रहा है। विद्यालय समाज के एक अंग के रूप में उसके उत्थान की एक संस्था है। इसलिये विद्यालय को समाज का सानिध्य प्राप्त करना परमावश्यक है। विद्यालय के कार्यक्रमों का बाह्य समाज की समस्याओं और उसकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति में सहायक होना आवश्यक है। बालकों, अभिभावकों तथा शाला के कार्यकर्त्ताओं के निकट सम्पर्क के लिए भी यह आवश्यक है कि अभिभावकों को विद्यालय की गतिविधि, कार्य-प्रणाली एवं वातावरण से परिचित कराया जाकर शाला के कार्यक्रमों की ओर उनकी रुचि इस प्रकार आकर्षित की जाय कि वे विद्यालय को उनके बौद्धिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास का महत्त्वपूर्ण केन्द्र मानें।

विद्यालय और समाज में निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए दो रीतियां अपनाना होंगी—(१) विद्यालय को सामाजिक जीवन का केन्द्र बनाया जाय (२) विद्यालय को समाज में लाया जाय अर्थात् विद्यालय अपनी शिक्षा से समाज को लाभान्वित करे। पहली योजना के अनुसार त्योहारों, उत्सवों, समारोहों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन में अभिभावकों को सम्मिलित किया जाकर उनका क्रियात्मक सहयोग प्राप्त किया जाय और दूसरी योजना में विद्यालय समाज के समक्ष अपनी उपयोगिता सिद्ध करने उनकी सहानुभूति एवं सद्भावना प्राप्त करें। इस सद्भावना को लेकर विद्यालय जनता में शिक्षा के प्रचार और प्रसार का भी कार्य कर सकते हैं जिससे बालकों के साथ पालकों में भी अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को समझने और निभाने की भावना जागृत हो। इस प्रकार विद्यालय समाज का अवि-

भाज्य अंग और सामाजिक उन्नति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन सकता है। यह जब ही सम्भव है जब विद्यालय का शिक्षा-क्रम सम्बन्धित समाज तथा उसके जन जीवन की आवश्यकताओं के अनुकूल ही बनाया गया हो और शाला का संगठन भी इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य को लेकर किया गया हो।

इन सब बिचारों के प्रकाश में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि बुनियादी शिक्षा में शिक्षण को केवल कक्ष-अध्यापन तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है। इसी विचार के कारण शाला की व्यवस्था में भी बड़ा परिवर्तन करना होगा। जिस प्रकृति और समाज की कल्पना केवल कक्ष की सीमा के अन्दर करली जाती थी अब उसका प्रत्यक्ष अध्ययन प्रकृति की खुली गोद में और विस्तृत समाज में करना होगा।

शाला को समाज का पूरा संगठन सामाजिक नियमों के आधार पर करना होगा जिसमें उनका स्वयं का विधान होगा, संचालक मंडल होगा, उनके कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व निर्धारित होंगे। उनकी शाला का सामाज एक स्वनिर्मित, स्वयंप्रेरित, स्वसंचालित, स्वाश्रमी लोकतन्त्र के रूप में कार्य करेगा और पारस्परिक सहयोग, समानता भ्रातृत्व और न्याय की भावनाओं को लेकर नागरिकता के गुणों का विकास करता हुआ अपने वातावरण को इन सद्गुणों की ओर प्रभावित और प्रेरित करेगा।

उपर्युक्त दोनों नवीनताओं के कारण शिक्षालय व्यवस्था में क्या-क्या और किस-किस प्रकार परिवर्तन लाना होंगे इनका विस्तृत विवेचन पृथक् रूप से किया जा रहा है। इन पंक्तिओं की परिधि में तो केवल यही स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया गया है कि बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तानुसार रूढिगत प्रणाली में विद्यालय संगठन में किन-किन मौलिक परिवर्तनों की आवश्यकता होगी और क्यों ?

शिक्षालय का सामाजिक जीवन

सामूहिकता मानव-जीवन की एक मूल प्रवृत्ति है। स्वयं रहना, दूसरों को सहयोग देना और उनके साथ विकास करना मनुष्य की प्रकृति है। प्रायः मनुष्य समानतावाले समुदाय में जिसमें सदस्यों की अवस्था, अनुभव, सभ्यता, संस्कृति, शारीरिक तथा मानसिक गुण, भावनाएँ, धारणाएँ, सवेग और रुचियां समान होती हैं अधिक आनन्द लेता है। शाला में प्रायः इस प्रकार का समुदाय वर्ष भर में प्रत्येक दिन कम से कम छः घन्टों के लिए एकत्र होता ही है। यहां पालक एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आते हैं। उनकी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ होती हैं। पारस्परिक आदान-प्रदान होता है।

एक सामाजिक समुदाय का मुख्य गुण उसकी एकता है। यह समान आदर्शों उद्देश्यों और रुचियों द्वारा प्राप्त होती है। इस सामाजिक समूह की एकता की तुलना एक वाद्यवृन्द से की जा सकती है जिसमें प्रत्येक वाद्य अपना काम करता है और सामूहिक रूप से एक ही राग को आकर्षण देने में सब का समान उद्देश्य होता है। यह किसी निश्चित आदर्श की ओर बढ़ने में सहायक होती है। इस प्रकार के सामाजिक जीवन में व्यक्ति के चरित्र-निर्माण की पर्याप्त संभावनाएँ रहती हैं। वह व्यावहारिक आचरण की प्रयोगशाला में सामाजिक विधि, निषेध, मान्यता तथा अमान्यता द्वारा अपने व्यवहार का परिष्कार करके उसे समाजानुकूल बनाने में गढ़ता रहता है। उसकी भावनाएँ, धारणाएँ, दृष्टिकोण, मनोवृत्ति, चरित्र, आदर्श आदि सब ही सामाजिक आदर्शों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते हैं। अनुकरण, सहानुभूति तथा निर्देश की सामान्य प्रवृत्तियां बालक के आचरण के गढ़ने में अपना पूरा काम करती हैं। प्रायः देखने में यह आता है कि यदि घर, समाज और शाला के आदर्शों में द्वंद्व हो तो शाला के आदर्शों की ही विजय होती है क्योंकि शाला के साथियों की मान्यता और अमन्यता ही बालकों के लिए सब से बड़ा मापदण्ड होता है। इसलिए प्रत्येक बालक अपने को शाला के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार एक चट्टान का टुकड़ा एक

पर्वत की शिखर से चलता है और इस प्रकार के अनेक टुकड़ों के साथ रगड़ खाता और लुढ़कता हुआ अपनी यात्रा में अपने कोने और किनारों को घिसकर अपनेको चिकना बना लेता है। उसी प्रकार शिक्षालय समाज में अनेक प्रकार के कोनों को घिसकर बालक भी चट्टा बट्टा बनता है। इसलिए शिक्षालय में एक व्यवस्थित सामाजिक जीवन की आवश्यकता है।

समाज में व्यक्ति और समाज की पारस्परिक क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ एक दूसरे के विकास में अपना बड़ा हाथ रखती हैं। सामाजिक वातावरण व्यक्ति को समूह की प्रवृत्तियों में भाग लेकर अनुभव प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है। शिक्षालय इस प्रकार का एक व्यवस्थित सामाजिक वातावरण है जिसमें शाला की प्रवृत्तियाँ, परम्पराएँ बालक के विकास और उसके चरित्र-निर्माण पर एक स्थायी प्रभाव रखती हैं और बालक की जीवन-धारा को एक निश्चित दिशा में मोड़ने का एक उत्तम साधन है। इसलिए शिक्षालय का सामाजिक जीवन इस प्रकार आयोजित होना चाहिये कि बालक को उसके जीवन की लम्बाई और चौड़ाई में प्रगति करने का अवसर मिले जिससे भविष्य में प्रौढ़ जीवन में प्रभावशाली ढंग से जीवन व्यतीत कर सके। सामाजिक जीवन में अनुकूलता प्रदान करना शिक्षालय की सामाजिक व्यवस्था का एक लक्ष्य होना चाहिये।

सामाजिक जीवन स्थिर नहीं है। मानवता के सिद्धान्तों के साथ सामाजिक जीवन में भी अन्तर आता रहता है। यह भी सत्य है कि कभी परिवर्तन विकास के लिए होता है कभी विनाश के लिए। यह परिवर्तन व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन की मांग करता है। इसलिए अनुभवों के आधार पर व्यक्तिगत और सामाजिक पुनर्गठन की आवश्यकता पड़ती रहती है। इन परिवर्तनों से जागरुक रखना, व्यक्ति और समाज में सामंजस्य स्थापित किये रहना शिक्षा और शिक्षालयों का काम है। इस प्रकार शिक्षालय तीन प्रकार से शैक्षणिक महत्त्व रखता है। (१) परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार पुनर्गठन की योग्यता में विकास करना, (२) व्यक्तिगत विकास के लिए अवसर प्रदान करना, (३) सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना।

प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक संगठन में रहते हुए भी यह आवश्यक है कि उसकी मौलिकता, और उसकी विशेषताओं के विकास का अवसर मिले। किन्तु हमारी सामाजिक नीति का यह सिद्धान्त होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत

स्वतंत्रता उसके साथियों के समान अधिकारों से बंधी हुई है। व्यक्तिगत विकास और अभिव्यक्ति को पर्याप्त अवसर मिले और उनका उपयोग सामाजिक प्रगति के लिए किया जाय। इस प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्यों और प्रगति का समन्वय होगा। इसी प्रकार व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकता है। पुस्तकीय शिक्षा केवल मानसिक विकास तक ही सीमित रहती है। समाज द्वारा व्यक्ति को उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान को व्यवहार और अनुभव की तराजू पर तोलने का अवसर प्राप्त होता है जिससे ज्ञान में यथार्थवादिता आती है। मस्तिष्क ज्ञान प्राप्त करता है और सामाजिक व्यवहार उस ज्ञान का परिष्कार करता है। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ अपना समन्वय स्थापित करती हैं और सम्पूर्ण सन्तुलित व्यक्तित्व का विकास होता है। आज के मानव ने अनेक प्रकार के ज्ञान और विज्ञानों में कुशलता पाई है किन्तु इन वैज्ञानिक साधनों के द्वारा मानव और मानव के बीच का मीलों का अन्तर तो सुगम हो गया है इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मानव एक दूसरे के साथ रहने की प्रक्रिया में दक्ष होकर सामाजिक विज्ञान की कुशलता की ओर बढ़े। इस आवश्यकता ने शिक्षालयों में सामाजिकता के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया है।

शिक्षालय के सामाजिक-जीवन को शिक्षाप्रद बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शाला की प्रवृत्तियां, रुचियां, आदतें तथा शाला के जीवन का उद्देश्य इस प्रकार निर्मित हो और वहां के जीवन का संगठन इस प्रकार किया जाय कि शाला के बाहर के समाज से जोड़ा जा सके। तात्पर्य यह है कि बालक वास्तविक जीवन की परिस्थितियों का अनुभव जीवन जीते हुए करे। आज की दुनियां का जीवन जटिल हो गया है, पहले की भांति साधारण नहीं है। पहले बालक घर और समाज के सम्पर्क में जीवन-यापन की शिक्षा प्राप्त कर लेता था; किन्तु आज यह पर्याप्त नहीं है। संसार की आर्थिक और सामाजिक रचना ने सामाजिक व्यवहार को जटिल बना दिया है। विज्ञान की प्रगति ने परम्परा के रुढिवाद के बन्धनों को शिथिल कर दिया है। औद्योगीकरण की नीति ने सामाजिक एकीकरण, व्यक्तिगत तथा राष्ट्रगत परम्परावलम्बन को आवश्यक कर दिया है। सामाजिक संगठन के रूप में लोकतन्त्र की विचारधारा ने भी जनमानस में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है।

इन सब परिवर्तनों को दृष्टिगत करते हुए शिक्षालयों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि इस बदलती हुई दुनिया के अनुसार शिक्षा और शिक्षालय के
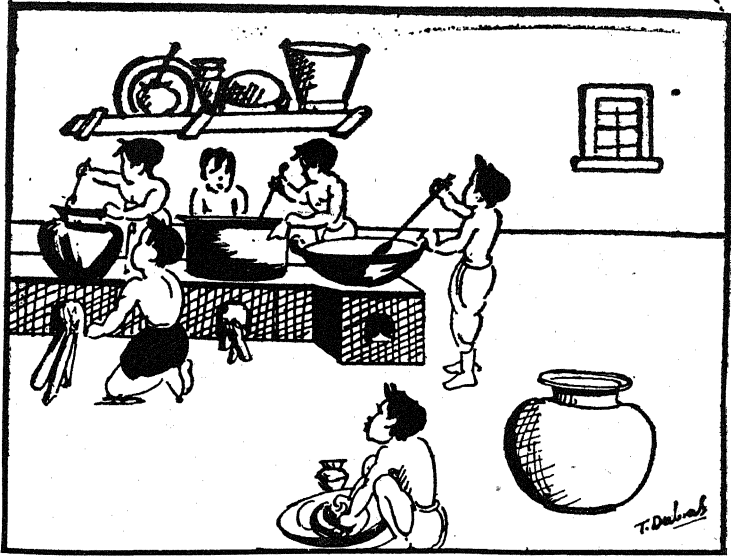
पाकशाला

वैज्ञानिक शिक्षा की प्रयोग शाला है ।

सामूहिक सफाई

सामुदायिक जीवन की दैनिक प्रवृत्तियों का एक अंग है। व्यक्तिगत तथा सामूहिक सफाई एक सामाजिक कर्त्तव्य है ।

ढांचे में परिवर्तन करें जिससे शिक्षार्थियों को वास्तविक जीवनोपयोगी शिक्षा मिल सके।

शिक्षालय के जीवन द्वारा इस उद्देश्य की पूर्त्ति करने के लिए निम्नलिखित योजना बनाना होगी:—

(१) आज के जटिल जीवन की समस्याओं और परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाकर उनका इस प्रकार साधारणीकरण किया जाय कि उनको बालकों के स्तर और समझ के योग्य बनाया जाकर शाला के सामाजिक जीवन की प्रवृत्तियों में उनको स्थान दिया जा सके। बालक के अवस्थागत विकास के अनुसार उसके स्तर और योग्यता की समस्याएँ प्रस्तुत होती जायँ और उनको हल करने में उसकी शिक्षा के उद्देश्य की पूर्त्ति भी होती चले। ऐसा होने पर ही बालक उनके महत्त्व को समझता है और उनमें वास्तविकता का अनुभव करता है। ज्यों-ज्यों उसके क्षेत्र का विस्तार होता जायगा त्यों-त्यों उसके सामाजिक जीवन की समस्याओं का विस्तार भी होगा और उसे अपने लिए वास्तविक जीवन की समर्थता की ओर अग्रसर करेगा।

(२) प्रौढ़ जीवन गुणों और अवगुणों का मिश्रण है। शाला का काम यह है कि वहां के सामाजिक जीवन का इस प्रकार परिष्कार करे कि सामाजिक जीवन के प्रगतिशील तत्त्वों को पोषण मिले और विध्वंसकारी तत्त्व नष्ट किये जा सकें। सामाजिक अध्यापन के अन्तर्गत बालकों को आज की दुनियां के वास्तविक परिचय के साथ यह भी ज्ञान कराया जाना आवश्यक है कि उच्च चरित्र और उच्च जीवन का सामाजिक संगठन में क्या महत्त्व है। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत आचरण से समाज को उठाने में कितना योगदान दे सकता है। शाला का सामाजिक जीवन और उसमें प्रत्येक व्यक्ति का क्रियात्मक सहयोग ही इसका मूक उत्तर होगा।

(३) सामुदायिक जीवन विभिन्न रुचियों के संगठन और संतुलन का भी अवसर प्रदान करता है। समाज का वर्गीकरण, जातिभेद, धर्मभेद, सामाजिक एवं आर्थिक भिन्नता, प्रान्तीयता तथा राष्ट्रीयता आदि अनेक तत्त्व हैं जो मनुष्यों की मनोवृत्तियों, भावनाओं और आदर्शों में मतभेद उत्पन्न करते हैं। इन विषम परिस्थितियों में व्यक्ति का कई ओर खिचाव होता है और उसकी मनोभावना प्रभावित होती रहती है। अब यहां शाला के एक व्यवस्थित

सामाजिक कार्यक्रम का हाथ आ जाता है जो इन प्रभावों का एकीकरण और सन्तुलन कर सके जिससे उसमें एक उदार और सहिष्णु मनोवृत्ति का उदय हो। बुनियादी शिक्षालय के सामाजिक जीवन के संगठन में जब सामाजिक जीवन की आवश्यकता-पूर्त्ति के लिए सब कंधे से कंधा लगाकर समान रूप से भाग लेते हैं तब स्वभावतः यह भेद-भाव नष्ट होते जाते हैं और एक नवीन मानवता का विकास होता है। जिसके आधार हैं प्रेम और सहयोग।

(४) शाला द्वारा जो अवसर सामाजिक अनुभवों के लिए प्राप्त होते हैं वह पूर्णरूपेण व्यावहारिक ही होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि शाला के जीवन के अन्तर्गत उन सामाजिक प्रवृत्तियों का आयोजन हो और शिक्षार्थी उनमें क्रियात्मक भाग लेकर अपने अनुभव के भण्डार में वृद्धि करें, उचित मनोवृत्तियों एवं आदतों का निर्माण करें। पुस्तकों द्वारा केवल अध्ययन अपर्याप्त है। अध्ययन के साथ आचरण हो और धीरे-धीरे वह संस्कार में परिणत हो। नागरिकता के अभ्यास की प्रत्यक्ष प्रयोगशाला के रूप में शाला के सामाजिक जीवन का संगठन हो जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को समझकर उनका अभ्यास करें।

शाला में उचित सामाजिक व्यवस्था से अनेक लाभ हैं। परिवार में समाज के व्यक्तियों की संख्या सीमित रहती है और शाला में समाज का समूह बड़ा होता है। यही नहीं कि संख्या ही अधिक होती है वरन् साथी प्रायः एक ही अवस्था, स्तर, योग्यता और अनुभव रखनेवाले होते हैं। भिन्न-भिन्न सामाजिक, आर्थिक, मानसिक स्तरवाले परिवारों का पारस्परिक आदान-प्रदान होता है। शाला में घर के संकुचित क्षेत्र का विस्तार हो जाता है। पारस्परिक आदर, सद्भावना, सहानुभूति, सहिष्णुता, त्याग, प्रेम, मित्रता आदि के भावों का विकास होता है; शाला के जीवन में सब समानता से भाग लेते हैं और उससे उनका महत्त्व स्थापित हो जाता है। पारस्परिक स्वस्थ स्पर्धा विकास को प्रोत्साहन देती है।

शैशवावस्था के स्कूलों का समाज अधिक बड़ा नहीं होना चाहिये। उसका रूप एक परिवार का ही हो, जिसमें माता की तरह शिक्षक से शिक्षार्थी चिपके रहें। जब बालक बड़े हो जायें तो उनको अधिक बड़े समूह में रखा जा सकता है। यदि उनकी व्यवस्था ठीक प्रकार से की जाय। छात्रावास-युक्त शिक्षालयों में सामाजिक जीवन के संगठन का अच्छा अवसर मिलता है।
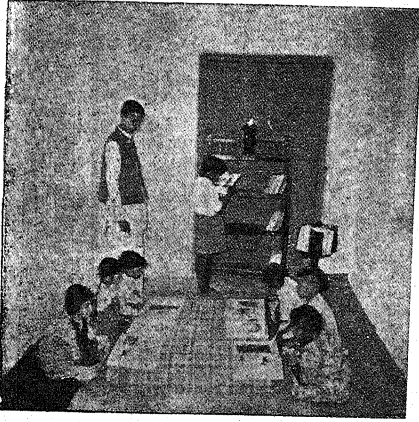
बालकों का वाचनालय
(निरीक्षित स्वाध्याय)

वस्त्रकला—कपास से सूत तक की क्रियाएँ
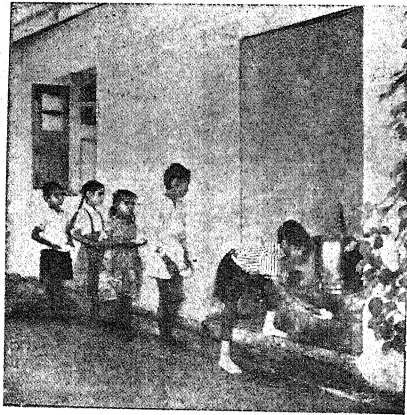
स्वावलम्बन—नाश्ते के बर्तन सफ़ाई

आरम्भ में शिक्षा-योजनाओं में जब कि ज्ञानार्जन का साधन केवल पुस्तकीय ज्ञान ही माना गया है। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को कोई स्थान न था, किन्तु धीरे-धीरे बालकों की सामाजिक प्रवृत्तियों ने अतिरिक्त कार्यक्रम के रूप में मान्यता प्राप्त करके स्थान पा लिया है। अपने शैक्षणिक महत्त्व को सिद्ध कर दिया है जिससे इनको न केवल अतिरिक्त प्रवृत्तियों में में ही स्थान है; अपितु पाठ्यक्रम के अतर्गत दीगई प्रवृत्तियों से समानता प्राप्त हो रही है। इस प्रकार का सामाजिक संगठन शिक्षार्थियों की सच्ची शिक्षा का माध्यम बन रहा है। इसलिए शिक्षालय के सामाजिक संगठन पर उचित बल दिये जाने की आवश्यकता है।

शिक्षालय संगठन का प्रजातांत्रिक रूप

बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य इस नई शिक्षा द्वारा नव मानव और उसके द्वारा नव समाज का निर्माण करना है जो भारत की जनतन्त्री रचना के अनुकूल हो। शिक्षालय संगठन की प्रारम्भिक चर्चा में शिक्षा के समाजीकरण की बात को स्पष्ट किया गया है और इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि शिक्षा को अधिक से अधिक सामाजिक रूप दिया जाय और उसको सामाजिक योग्यताओं, आवश्यकताओं और उसकी प्रवृत्तियों से जोड़ा जाय। इस उद्देश्य को लेकर शाला को एक प्रजातन्त्रीय समाज का ही रूप देने की कल्पना की गई है। जैसे राष्ट्र का संचालन प्रजातान्त्रिक प्रणाली के अनुसार होता है उसी प्रकार शिक्षालयों में बालक भी प्रजातान्त्रिक जीवन से परिचित व अभ्यासी बनें यह तब ही संभव है जब कि शिक्षालय संगठन भी उन्हीं आदर्शों को लेकर किया जाय। इसके सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि बालकों और कार्यकर्त्ताओं के पारस्परिक परामर्श से शिक्षालय की प्रवृत्तियों का संगठन किया जाय। उसका एक विधान हो, नियमावली हो, स्पष्ट कार्य-क्षेत्र हो, कार्यकर्त्ताओं के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व की स्पष्ट रूप-रेखा हो। इस प्रकार शिक्षालय हमारे सामाजिक जीवन के प्रतिनिधि अथवा उसके प्रतिबिम्ब और लोकतन्त्रीय जीवन के लघुरूप होना चाहिये, जिससे स्वयंसंचालित, स्वयंप्रेरित, सहयोगपूर्ण समाज का निर्माण हो सके।

छात्र-संसद् संस्था का एक प्रमुख अंग है। विभिन्न क्रिया शीलनों के के समुचित संचालन और छात्रों के सर्वांगीण विकास का एक उत्तम साधन है जिसमें बालक अपने कर्त्तव्य-पालन और उत्तरदायित्व को निभाने का अभ्यास करेंगे जिससे समाज का गठन समाजवादी ढांचे पर हो सके। विद्यालय में विभिन्न प्रवृत्तियों और स्तर के छात्र रहते हैं और कार्य भी विभिन्न विभागों में विभाजित रहता है। यह आवश्यक है कि विद्यार्थी एकता की मानवता के साथ सभी विभागों के निर्धारित लक्ष्य को पूरा करें। छात्र-संसद् सामूहिक रूप से विचार-विमर्श करने और योजनाओं को सामूहिक प्रयत्नों से कार्य-

छात्र-संसद्
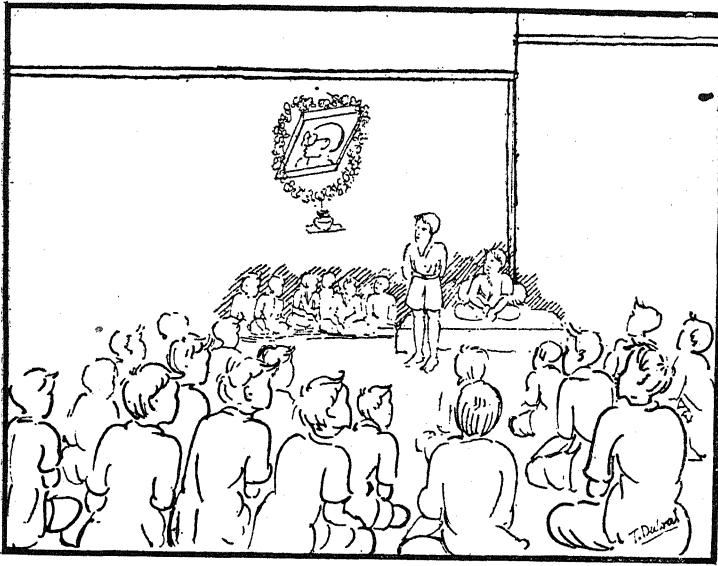
राष्ट्र-संचालन के लिए प्रजातंत्र की प्रारम्भिक पाठशाला ।

सूत्र-यज्ञ

जो कातें सो पहनें; जो पहनें सो कातें। यह श्रमिक जीवन का प्रतीक है ।

रूप में परिणत करने का अनुकूल अवसर प्रदान करती है जिससे उनको कार्यों में आनन्द की अनुभूति के साथ उनका नैतिक स्तर भी ऊंचा उठता है। बालक स्वयं अपने मार्ग की कठिनाइयों का निराकरण करते हैं और समस्याओं का समाधान ढूंढ़ निकालते हैं जिससे उनके विकास का मार्ग प्रशस्त होता है और उनको चरित्र-निर्माण के अवसर भी प्राप्त होते हैं जिसके फलस्वरूप शिक्षार्थियों में निर्भीकता, स्पष्टवादिता, सहयोग, आत्मीयता, कर्त्तव्यपरायणता, सहिष्णुता, वाक्संयम, सहानुभूति और आत्मविश्वास आदि चारित्रिक योग्यताओं का विकास होता है।

छात्र-संसद् के संचालन द्वारा राज्य प्रशासन की गतिविधि की भी जानकारी प्राप्त हो जाती है। व्यक्तिगत अधिकार तथा कर्त्तव्य, निर्वाचन-प्रणाली, मंत्रि-मंडल, उनका कार्य-क्षेत्र, उनके पद का उत्तरदायित्व आदि का प्रत्यक्ष बोध और व्यावहारिक अनुभव होता है।

संसद् का कार्यक्रम इस प्रकार का होना चाहिये कि विद्यालय के समस्त विभागों का काम निश्चित रूप से आगे बढ़ सके। संसद् के प्रमुख कार्य इस प्रकार होंगे :—

(१) प्रत्येक विभाग के कार्य की मासिक योजना बनाना और उसको कार्यान्वित किये जाने की व्यवस्था करना।

(२) मास के अन्त में कार्यों का सिंहावलोकन करना और देखना कि योजनानुसार कार्य किया जा सकता है या नहीं।

(३) उत्सवों, त्योंहारों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन।

(४) योग्य और अनुभवी व्यक्तियों को भाषण को आमंत्रित करना।

(५) बालकों की योग्यतानुसार स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचारार्थ गोष्टियों का आयोजन करना।

(६) शिक्षण की विभिन्न सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दिशाओं के लिए उप-समितियों का निर्माण करना।

(७) सामाजिक सेवा तथा जन-कल्याण के लिए सामाजिक सम्पर्क की योजना बनाना व उसे व्यावहारिक रूप देना।

(८) रचनात्मक कार्यों में भाग लेने की योजना बनाना।

शिक्षालय के विधान की एक रूप-रेखा नीचे दी जा रही है। आवश्यकता और अनुकूलता के अनुसार इसमें परिवर्तन किये जा सकते हैं। शिक्षालय और शिक्षार्थियों के स्तर का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होगी।

विधान की रूप-रेखा

प्रस्तावना.—बुनियादी शिक्षा एक लोकतन्त्रात्मक, स्वाश्रयी, स्वयंचालित, स्वयंशासित तथा सहयोगी समाज की स्थापना में विश्वास करती है। भ्रातृत्व, समानता, स्वतन्त्रता और न्याय उसके आधारभूत अंग हैं। अतएव शिक्षालय में शैक्षाणिक योग्यता के विकास की योजना के साथ यह भी आवश्यक है कि वहां का सामाजिक जीवन इसी प्रकार के सिद्धान्तों पर आधारित हो जिससे शिक्षार्थियों को इन आदर्शों को अपने जीवन में उतारने का अभ्यास मिले और सामाजिक जीवन की प्रवृत्तियां शिक्षा के माध्यम के रूप में काम में लाई जा सकें। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति हेतु इस विधान का निर्माण किया गया है।

यह विधान सन् की अवधि में प्रभावशील रहेगा।

समाज-व्यवस्था.—सामाज-व्यवस्था के तीन तन्त्र होंगे:—

(१) छात्र-संसद, (२) मंत्रि-मंडल, (३) न्याय सभा।

छात्र-संसद्.—प्रत्येक विद्यार्थी और कार्यकर्त्ता इस संसद् का सदस्य होगा। इसके अध्यक्ष शिक्षालय के प्रधान होंगे जिनका सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी निर्णय अन्तिम होगा। अपनी अनुपस्थिति में वह अपना अधिकार किसी अन्य कार्यकर्त्ता को हस्तान्तरित कर सकते हैं।

यह सभा कार्य-संचालन हेतु मंत्रि-मंडल तथा न्यायसमिति के सदस्यों का चुनाव करेगी। मास के अन्त में उनके कार्य-विवरण और प्रतिवेदन को सुनेगी तथा समस्याओं पर विचार करेगी। इस सभा में प्रत्येक सदस्य को मंत्रि-मण्डल के सदस्यों से स्पष्टीकरण का तथा जानकारी प्राप्त करने का अधिकार होगा।

प्रति मास के अन्त में आगामी मास के चुनाव के लिए आम सभा की बैठक होगी। इसी प्रकार आगामी मास के प्रारम्भ में प्रतिवेदन सुनने को आम सभा बुलाई जायगी। आवश्यकता पड़ने पर अध्यक्ष की अनुमति से विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती है।

सभा में मत हाथ उठाकर या गुप्त मत-पत्र द्वारा दिया जायगा। प्रौढ़ों की शिक्षा-संस्थाओं में दूसरे प्रकार से ही मत लिया जाना उचित होगा, क्योंकि कभी-कभी चुनाव अकारण मनोमालिन्य का भी कारण बन जाते हैं। निर्णय बहुमत से ही होगा। समान मतों की स्थिति में अध्यक्ष अपने मत का उपयोग करके निर्णय देगा। वह अपनी स्वेच्छानुसार कागज की गोलियां डालकर भी निर्णय दे सकेंगे । सभा की कार्यवाही का लेखा व विवरण मुख्य मंत्री रखेंगे।

२. **मंत्रि-मंडल.**—प्रति मास के अन्त में आगामी मास के मंत्रि-मंड्ल के सदस्यों का चुनाव होगा। उनके कार्य-काल की अवधि प्रायः एक मास ही होगी। विशेष परिस्थिति में अध्यक्ष की अनुमति से इस अवधि में न्यूनाधिक्य भी किया जा सकेगा। मास के अन्त में प्रत्येक मंत्री अपने विभाग के कार्यों का प्रतिवेदन संसद् के समक्ष प्रस्तुत करेगा व स्पष्टीकरण मांगा जाने पर उत्तर को तत्पर रहेगा। नया मंत्रि-मंडल मास की अन्तिम तिथि को शपथ ग्रहण करेगा व कार्यभार सम्हालेगा। चुनाव की प्रथा में आवश्यकतानुसार हेर-फेर भी किया जा सकता है कि केवल प्रधान मंत्री का ही चुनाव किया जाय व शेष मंत्रि-मंडल की सूची प्रधान मंत्री अध्यक्ष की अनुमति को प्रस्तुत करे। प्रौढ़ों की संस्थाओं में यह नीति उचित होनी है; किन्तु बालकों की संस्थाओं में सब ही मंत्रि-पदों को आम चुनाव से ही भरा जाना ठीक होता है।

समाज के सदस्यों द्वारा प्रस्तावित तथा समर्थन किये गये व्यक्तियों में से ही बहुमत से चुनाव होगा। सामान्यत: एक व्यक्ति को एक मास में चुना जाने पर आगामी मास में दुबारा नहीं चुना जायगा। सामाजिक कार्य हेतु किसी व्यक्ति का नाम प्रस्तावित किये जाने पर प्रस्तावक को ही नाम वापस लेने की अधिकार होगा। प्रस्तावक को चाहिये कि सम्बन्धित व्यक्ति की अनुमति के पश्चात् ही उसका नाम प्रस्तावित करे

प्राय: मंत्रि-मंडल में निम्नलिखित मंत्री रहेंगे। आवश्यकतानुसार इनकी संख्या में न्यूनाधिक्य किया जा सकता है।

मुख्य मंत्री.—मंत्रि-मंडल का संचालन और सामाजिक कार्यों की व्यवस्था, समाज की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के अनुकूल कार्यों का विभाजन, यह कार्य प्रति सप्ताह किया जाय। मंत्रि-मंडल में मेल व सहयोग से कार्य

कराना व उनके कार्यों का संयोजन और उसकी देख-देख करना। ग्राम सभा व विशेष बैठकों की व्यवस्था करना व उनका ब्योरा रखना। समाज के विशेष कार्यों की व्यवस्था करना।

गृह-मंत्री.—यह उप-प्रधान मंत्री का भी कार्य करते हैं। आगन्तुकों का परिचय कराना और अतिथियों के स्वागत का प्रबन्ध करना इसी मंत्रालय का कार्य है। समाज के सामान की व्यवस्था करना, देख-रेख रखना, समाज की उपस्थिति का लेखा रखना, समाज में नवीन प्रवेश करनेवालों तथा समाज से बिदा होनेवालों का लेखा रखना, समाज के सदस्यों की बिदाई व स्वागत की व्यवस्था करना भी इन्हीं के कर्त्तव्य के अन्तर्गत है।

भोजन-मंत्री.—भोजन सम्बन्धी सामूहिक व्यवस्था इस प्रकार करना कि उपलब्ध वस्तुओं द्वारा स्वास्थ्यप्रद तथा सन्तुलित भोजन मितव्ययतासे प्राप्त होसके। भोजनालय का हिसाब-किताब रखना तथा भोजनालय के नियमों की पाबन्दी करना व कराना। हिसाब-किताब की जांच के लिए एक समिति तथा भोजनालय के लिए प्रतिनिधियों की एक सलाहकार-समिति उपयोगी होती है। भोजन-मंत्री अपनी सहायताके लिए एक कोठारी तथा एक क्रय-समिति बना सकते हैं। भोजनालय में दैनिक आय-व्यय रजिस्टर व भोजन-शुल्क आदि रजिस्टर रहेंगे जिनपर सामाजिक जीवन व्यवस्थापक के हस्ताक्षर कराना होंगे। यह व्यवस्थापक अध्यापकों में से अध्यक्ष द्वारा नामांकित किये जावेंगे।

सफाई मंत्री.—शिक्षालय के आधीन भूमि, भवनों, जलाशयों तथा शौच-गृहों आदि की सफाई करना। कार्य तथा कार्य में उपस्थिति का लेखा रखना, सामान की व्यवस्था, देख-रेख रखना तथा समय के अनुसार कार्य।

स्वास्थ्य मंत्री.—समाज के सदस्यों के स्वास्थ्य की देखभाल, वजन लेने तथा नापतोल की सामयिक व्यवस्था, बीमारों की औषधि, पथ्य तथा शुश्रूषा की व्यवस्था, आरोग्य-सम्बन्धी सूचनाएँ, आरोग्यप्रद क्रीड़ा व मनोरंजन की व्यवस्था करना।

कभी-कभी इस मंत्रालय के काम को मिलाकर स्वास्थ्य तथा सफाई विभाग एक ही मंत्रालय के आधीन कर देते हैं।

संस्कृति मंत्री.—सांस्कृतिक कार्यों, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक उत्सवों, त्योहारों आदि का आयोजन व व्यवस्था, नैमित्तिक प्रार्थना, मनोरंजन,

शैक्षणिक यात्रा, प्रदर्शनी तथा पाठशाला की पत्रिका का प्रकाशन, वाचनालयँ-व्यवस्था, क्रीड़ा, आमोद-प्रमोद का आयोजन, रचनात्मक कार्यक्रम आदि की व्यवस्था इसी विभाग का कार्य है।

शिक्षा मंत्री.—कक्षा में उपस्थिति रखना, शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रमों की सूचना देना, वर्ग व्यवस्था रखना, उद्योग विभागों के कार्यों की व्यवस्था व देख-भाल (कभी-कभी इस कार्य को उद्योग मंत्री के नाम से एक पृथक् मंत्री या सहायक शिक्षा मंत्री भी नियुक्त किया जा सकता है), शिक्षकों तथा शिक्षार्थियों के बीच डायरियां, नोट्स, आदि के आदान-प्रदान की व्यवस्था करना, विद्यार्थियों के अवकाश की स्वीकृति प्राप्त करना, शैक्षणिक कार्यक्रमों का संचालन करना।

अर्थ मंत्री.—सदस्यों द्वारा दिये गये भिन्न शुल्कों का हिसाब रखना तथा छात्र संघ शुल्क के आय-व्यय का लेखा-जोखा रखना।

टिप्पणी.—प्राय: यह मंत्रि-मंडल इन सब कर्त्तव्यों और अधिकारों के साथ छात्रावासवाले शिक्षालय में पूर्णरूपेण उपयोगी होता है। साधारण शिक्षालय के कार्यों की आवश्यकतानुसार इस संख्या में और कार्यों में परिवर्तन करना वांच्छनीय होगा।

(३) **न्याय समिति.**—सामाजिक नियमों, व्यवस्था और अनुशासन के उल्लंघन पर प्रतिबन्ध रखे जाने को एक न्याय-समिति स्थापित की जायगी, जिसमें समाज द्वारा तीन प्रतिनिधियों का चुनाव होगा और शिक्षकों में से अध्यक्ष के द्वारा एक शिक्षक नामांकित किये जायेंगे। समिति का निर्णय विचारार्थ आम-सभा में रखा जा सकेगा व अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होगा।

अध्यक्ष.—समाज का बुनियादी शिक्षा सिद्धान्तों के अनुसार निर्मित विधान के अनुकूल संचालन करना। सभा की कार्यवाही को नियमों व सिद्धान्तों के अनुकूल होने पर स्थगित या रद्द कर देना। किसी भी प्रश्न या समस्या को अनावश्यक, असामयिक अथवा व्यवस्था को भंग करनेवाला समझकर रद्द करना। विशेष परिस्थिति में मंत्रि-मंडल को भंग करके नवीन व्यवस्था स्थापित करान व विशेषाधिकार से आदेश प्रसारित करना।

~विधान में संशोधन.—कम से कम एक तिहाई सदस्यों की लेखी मांग होने पर व ७५ प्रतिशत उपस्थिति में बहुमत से विधान में संशोधन हो सकेगा।

यदि छात्रावासयुक्त शिक्षालय है और उसमें भोजनालय की व्यवस्था भी है तो उसके लिए भोजनालय की नियमावली पृथक् रूप से बनाना चाहिये।

समाज के प्रत्येक सदस्यों को प्रत्येक सामूहिक प्रवृत्तियों में भेदभाव-रहित होकर भाग लेना चाहिये। इस प्रकार के सहयोग को परावलम्बन नहीं कहा जा सकता है। वह तो सुसंस्कृत एवं जीवित समाज का एक लक्षण है। प्रेम और सहयोग सामाजिंक संगठन की आधार-शिलाएँ ही हैं। न्यायपूर्ण आदान-प्रदान सामाजिक संगठन की कड़ियों को दृढ़ता ही प्रदान करता है। अतएव समाज के कर्त्तव्यों की पूर्त्ति हेतु समाज के प्रत्येक सदस्य को तत्पर रहकर समानता से प्रत्येक प्रवृत्ति में भाग लेना चाहिये।

समाज के सामूहिक प्रयत्न से कार्य सम्पन्न न होने की दशा में ही वृत्ति-भोगी कर्मचारी रखे जावेंगे; किन्तु ऐसे व्यक्तियों को हीन दृष्टि से नहीं देखा जायगा, वरन् उन्हें सहयोगी व साथी ही समझा जाना चाहिये। दूसरों के साथ इस नियम का पालन करने से कटुता नहीं उत्पन्न हो पाती है।

"मैं किसीसे किसी ऐसे काम को न तो करने कहूंगा और न उस कार्य में किसीकी सहायता ही स्वीकार करूँगा जिसको मैं स्वयं प्रसन्नता से उसके लिए करने को तत्पर न हो सकूंगा।"

सामाजिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक सदस्य की क्रियाएँ सम्पूर्ण समाज के हित की ओर प्रवाहित हों। समाज के हित में ही अपना हित समझे। उन्नतिशील समाज में ही व्यक्ति उन्नति कर सकता है। अपने को ऊँचा उठाकर को समाज ऊंचा उठाना व्यक्ति का कर्त्तव्य है और उन्नत समाज में रहकर व्यक्ति अपना अधिकाधिक विकास करे यह समाज का कर्त्तव्य है। यही व्यक्ति और समाज का न्यायपूर्ण आदान-प्रदान है। कम-से-कम परावलम्बन, अधिक-से-अधिक स्वावलम्बन तथा पारस्परिक सहयोग के परस्परावलम्बन सामाजिक व्यवस्था के लिए एक उत्तम नीति है।

पूर्वकाल के मानीटर या प्रीफेक्ट की प्रणाली उस समय उपयोगी रही हो; किन्तु अब तो आज के युग की मांग इस प्रकार की है, लोकतन्त्रीय व्यवस्था ही है, जिसमें अन्तिम सत्ता समाज के सामूहिक रूप में ही नीहित रहती है जिसका

बाल सभा—लोकतन्त्र की प्रथम सीढ़ी
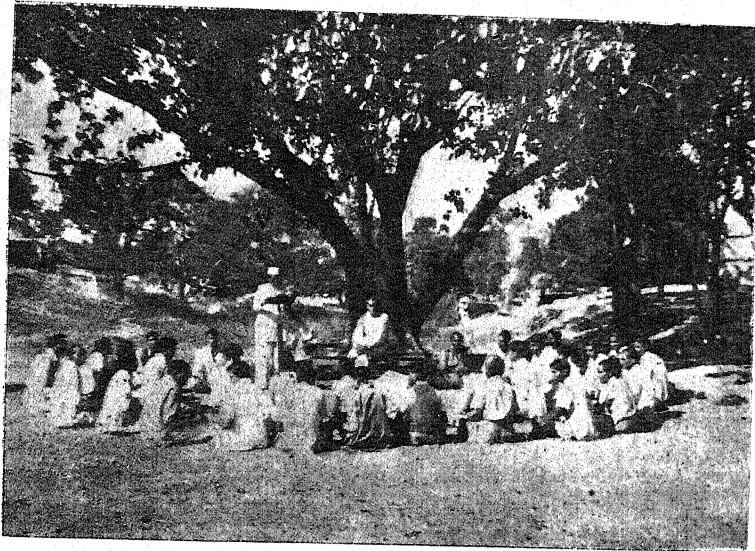
प्रकृति के सुरम्य प्रांगन में अध्यापन

उपयोग समाज-कल्याण के लिए उनके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। इसमें शासन शिक्षित लोगों की राय से उनके बहुमत से किया जाता है। समाज नेताओं और अनुयायियों का बना हुआ होता है। नेताओं में नेतृत्व के तथा अनुयायियों में अनुशीलन के गुण होना आवश्यक हैं। लोकतन्त्र में प्रत्येक को नेता और अनुयायी के रूप में काम करने की सम्भावना रहती ही है। इन दोनों के गुणों के विकास के लिए लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था ही उपयोगी है।

इन व्यवस्थाओं के कई रूप हुआ करते हैं:—

(१) इसमें विद्यार्थियों की कोई स्थायी शासन-व्यवस्था नहीं रहती वरन् आवश्यकता पड़ने पर कार्य के अनुरूप जैसे उत्सव, त्योहार, पालक-दिवस, भाषण, वाद-विवाद आदि के लिए अस्थायी व्यवस्था करली जाती है। इसमें भी विद्यार्थियों को सहयोगियों के रूप में काम करने की तथा उत्तरदायित्व को सम्हालने की योग्यता का अभ्यास करने का अवसर मिलता है। इसके द्वारा कार्यकर्त्ता, उत्साही विद्यार्थियों का चयन हो सकता है। किन्तु इस योजना में भी कतिपय विशेष योग्यता रखनेवाले विद्यार्थियों को ही अस्थायी अवसर मिलता है और लगातार सामाजिक जीवन की व्यवस्था का वास्तविक अनुभव नहीं होने पाता है।

(२) दूसरी योजना यह हुआ करती है कि शाला की विभिन्न प्रवृत्तियों को चुना जाय और चुने हुए विद्यार्थियों के दलों को उनके संचालन व व्यवस्था के लिए सुपुर्द कर दिया जाय। इनका चुनाव या तो विद्यार्थियों द्वारा अथवा अध्यापकों द्वारा हो। विद्यार्थियों द्वारा चुनाव की प्रथा अधिक लोकतन्त्रीय होगी। अतिथियों का सत्कार, वाचनालय-व्यवस्था, उपस्थिति का लेखा, कक्षा-अनुशासन, अध्यापन कक्ष निरीक्षण, अल्पाहार-व्यवस्था, प्राथमिक सहायता, सेवा-मंडल, क्रीड़ा-समिति आदि अनेक कार्यों की सूची इसमें सम्मिलित की जा सकती है। यह दल प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्रों में काम करते हैं, किन्तु इसके प्रतिनिधि संचालक परस्पर मिलकर भी सामूहिक समस्याओं और व्यवस्था पर विचार-विमर्श किया करते हैं। अच्छा हो यदि इसके संचालन में मार्गदर्शन के लिए अध्यापक-मंडल में से किसी एक या दो व्यक्तियों की नियुक्ति कर दी जाय।

(३) इस प्रकार के पृथक्-पृथक् ग्रुप रखने से भी कभी अनावश्यक ग्रुप स्पर्धा की भावना और मतभेद भी उत्पन्न होने की सम्भावना हुआ करती है। इस दृष्टि से विद्यार्थियों का ही केन्द्रीय संगठन रखना उत्तम व्यवस्था है। यह संगठन पूरे विद्यार्थियों के समाज का प्रतिनिधित्व करेगा और उनकी समस्त प्रवृत्तियों की रीति-नीति का संचालन करेगा। इस केन्द्रीय संगठन के अन्तर्गत ही समस्त प्रवृत्तियों के विभाग और उप-विभाग होते हैं जो इस केन्द्रीय संगठन को उत्तरदायी होते हैं। इस कार्य के लिए चुनाव की प्रणाली स्वस्थ होना चाहिये, जिससे स्वस्थ परम्पराएँ पड़ सकें।

(४) इस प्रकार के केन्द्रीय संगठन में भी यदि दो या तीन तन्त्र हों तो अधिक उपयोगी होता है।

(१) समस्त विद्यार्थियों की संसद् या ग्राम सभा जो विधान व संगठन के तथा उसके संचालन के नियम बताती है।

(२) कार्यकारिणी जो निर्धारित नीति को कार्यान्वित करती है जिसमें प्रायः विभिन्न विभागों के संचालकों का मंत्रि-मंडल रहता है।

(३) न्याय-समिति जो नियम भंग होने की दशा में अनुशासन कायम रखने को प्रतिबन्ध रखती है।

(५) इस व्यवस्था का पांचवा रूप एक छोटे नगर की शासन-व्यवस्था के अनुरूप होता है, जिसमें शाला का रूप एक छोटे नगर का हो जाता है और उसकी व्यवस्था भी नगर-शासन-व्यवस्था का रूप ले लेती है। नागरिकता की प्रत्यक्ष व्यावहारिक शिक्षा के लिए यह रूप अधिक अनुकूलता रखता है।

तात्पर्य यह है कि व्यवस्था शिक्षार्थियों पर लादी न जाय, वरन् उनको यह अनुभव हो कि व्यवस्था हमारे द्वारा बनाई गई है, उसकी सुरक्षा, संगठन और संचालन का उत्तरदायित्व हमारा ही है। हम में से प्रत्येक को अधिक से अधिक क्रियात्मक सहयोग देना चाहिये। इसलिए व्यवस्था में अधिक से अधिक विद्यार्थी भाग ले सकें इस प्रकार की योजना बनाई जाना चाहिये। इन सब तथ्यों और सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होगा की बुनियादी शिक्षा में शिक्षालय की लोकतन्त्री व्यवस्था की जो कल्पना है वह यदि उसके सही रूप में बालकों के स्तर के अनुसार कार्यान्वित की जाय तो बालकों में वांच्छनीय गुणों का विकास होने की पर्याप्त संभावनाएँ हैं।

बुनियादी शाला का स्वरूप

(१)

"जहां केवल कर्म-बुद्धि से काम होता है वह कारखाना है और जहाँ ज्ञान-बुद्धि से काम होता है वह है स्कूल।"

—आचार्य विनोबा

यह बात जितनी सत्य बुनियादी शालाओं के लिए सम्भव है उतनी रूढ़िगत पुरानी शालाओं के लिए न हो। बुनियादी शिक्षा-योजना में शिक्षा को उद्योगकेन्द्रित बनाने से यह और भी अधिक तथ्यपूर्ण हो गई है। यहाँ तो जीवन की आवश्यकता-पूर्त्ति की सोद्देश्य इकाइयाँ और उद्योग की प्रक्रियाएँ ही शिक्षा का माध्यम मानी गई हैं। इसका अर्थ यही है कि जो काम किया जायगा वह केवल यांत्रिक ही न होगा वरन् उसका क्यों और कैसे समझकर ही किया जायगा तब ही तो ज्ञान उन क्रियाओं पर आधारित हो सकेगा। बुनियादी शिक्षा की मूल कल्पना में भी जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट में यही विचार व्यक्त किया गया है कि इस योजना का मूल उद्देश्य केवल किसी उद्योग में निष्णात बनाने मात्र का ही नहीं है, अपितु उस उद्योग की प्रक्रियाओं का उपयोग शिक्षार्थी की शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों के विकास में करना है। इस दृष्टि से (शाला की) व्यवस्था करना होगी जिसमें उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्त्ति हो सके अन्यथा उसका वास्तविक स्वरूप बुनियादी शाला का नहीं कहा जा सकेगा।

(२)

"विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचारशून्य बन जाता है। मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि, एक ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिये और

दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिये। समाज-शास्त्र को चाहिये कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिये कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे।"

—आचार्य विनोबा

आज कल प्रायः सब ही शिक्षा-शास्त्री इस सिद्धान्त से सहमत हैं कि शाला, घर और समाज का सम्बन्ध स्थापित किया जाय, यदि शिक्षा में वास्तविक सामाजिक उपयोगिता लाना है और उसको जीवनव्यापिनी बनाना है। बुनियादी शिक्षा को जीवन की शिक्षा, जीवन के लिए और जीवन द्वारा कहा गया है। यदि इस कथन के तथ्य को साकार करना है तो मनुष्य का जीवन जिस-जिस कौने तक फैला हुआ है वहाँ तक शिक्षा का क्षेत्र विस्तीर्ण होना चाहिये। शाला, घर, और विद्यार्थी का प्राकृतिक व सामाजिक क्षेत्र इसके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं। इसका यही अर्थ है कि शाला, घर और समाज की प्रवृत्तियों में सामंजस्य हो जिससे शिक्षा और जीवन के वास्तविक क्षेत्र का सम्बन्ध जुड़ जाय। अर्थात् शिक्षालय को एक समाज का ही रूप दिया जाय जिससे सामाजिक प्रवृत्तियों का अभ्यास हो और समाज से स्वाभाविक सम्बन्ध जुड़ा रह सके। यह है शिक्षा के समाजीकरण की योजना। अतएव एक बुनियादी शाला के संगठन और व्यवस्था में यह समाजीकरण परिलक्षित होना चाहिये।

(३)

"शिक्षालय समाज का एक लघुरूप ही नहीं अपितु वह स्वयं एक समाज ही है जिसमें शिक्षार्थी सामाजिक प्रवृत्तियों में भाग लेते हुए अपने अनुभवों का पुनर्गठन करते हैं। यही शिक्षा है।"

—जान ड्यूई

यह विचार भी उपर्युक्त कथन का समर्थन करता है। इन कार्यकेन्द्रित स्कूलों की योजना भी इसी सिद्धान्त के आधार पर बनाई जाती है। इनके मतानुसार कार्यकेन्द्रित स्कूलों में अधोलिखित कार्यक्रम को स्थान मिलना चाहिये:—

(१) शाला में समाज की वास्तविक उपयोगिता और सोद्देश्य प्रवृत्तियों को स्थान दिया जाय जिससे उनको शुद्ध, सरल और सन्तुलित किया जा सके।

(२) शाला का जीवन घरू जीवन से विकसित हो।

(३) शिक्षा का आरम्भ क्रिया से ही हो।

(४) शिक्षा का केन्द्र क्रिया हो, न कि कोई विषय।

(५) सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व हो।

(६) भोजन का उत्पादन और बनाना, वस्त्रकला, भवन-निर्माण-कला और उनसे सम्बन्धित आनुषंगिक क्रियाएँ आदि।

(७) चर्चा, बात-चीत, पूछ-ताछ और निर्माण आदि की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हो।

(८) सामाजिक तथा सहयोगी जीवन का अभ्यास हो।

(९) परीक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान की जांच मात्र न हो वरन् सामाजिक योग्यता का मूल्यांकन हो।

(१०) अध्ययन का विभागीकरण किया जाय।

(११) शिक्षण में समस्या, कठिनाई निवारण, निर्देश तथा उनके अनुसार क्रिया, और परिणाम की जाँच की पद्धति को अपनाया जाय।

बुनियादी शाला एक कार्यकेन्द्रित शाला के अन्तर्गत ही आती है, अस्तु उसकी व्यवस्था में उपर्युक्त सिद्धान्त विचारणीय हैं।

"स्कूल एक प्यार का घर है।"

—पेस्टालांजी

इनके मतानुसार बालक का प्रवृत्तियों में भाग लेते हुए स्वानुभूति से ही सीखना आवश्यक है। इन्होंने भी खेती, बागवानी और दस्तकारियों आदि का शिक्षा में उपयोग किया है और शाला में प्यार के वातावरण पर जोर दिया है। बुनियादी शिक्षक के गुणों में भी माता के प्रेम को उसकी प्रथम योग्यता बतलाया गया है जिससे शाला बालक के लिए एक प्यार का घर बना रहे।

(५)

"स्कूल बालकों का एक बगीचा है।"

—फ्रावेल

इस योजना में भी बालक की स्वयं की उमंग और उसके सामाजिक अनुभवों को शिक्षा का साधन माना गया है। स्कूल की तुलना एक बगीचे

से करते हुए बालकों को उस बगीचे के पौधों की संज्ञा दी गई है और शिक्षक को एक माली के रूप में माना गया है जो पौधों के समुचित विकास के लिए उचित मिट्टी, पानी, वायु, और धूप आदि की सुविधाओं की व्यवस्था करता रहता है और पौधे अपने स्वाभाविक गति से विकास करते रहते हैं। इसी प्रकार बुनियादी शिक्षालय में जहां बालक अपने जीवन की आवश्यकताओं की सोद्देश्य इकाइयों की पूर्त्ति में अपनी स्वयं की प्रेरणा से लगे रहते हैं वहां शिक्षा का कार्य उचित निर्देशन और मार्ग-दर्शन का है। आज का शिक्षा-युग बालक केन्द्रित शिक्षा में विश्वास करता है। बुनियादी शिक्षा के जन्म-दाता ने तो बालक का आध्यात्मिक शक्ति की एक चिनगारी के ही रूप में दर्शन किया है। अतः बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रमों में बालक की आवश्यकता, रुचि, उमंग, उत्साह और उसकी मूल प्रवृत्तियों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना आवश्यक होगा।

इस दृष्टि से स्कूल के निम्नलिखित उद्देश्य होना चाहिये :—

(१) शिक्षालय बालक के विकास के लिए एक व्यवस्थित वातावरण है जिससे बालक शिक्षालय में शिक्षा समाप्त करने पर समाज में उपयोगी सदस्य के रूप में भाग ले सके और संसार की समस्याओं को समझकर उनका निराकरण करने में भी योगदान दे सके।

(२) शिक्षालय के द्वारा बालक का व्यक्तिगत और सामाजिक विकास हो सके।

(३) एक उपयोगी जीवन बिताने के लिए उचित आदतों का निर्माण हो सके और इनके अभ्यास के लिए प्रेरणा तथा मार्ग-दर्शन भी प्राप्त हो सके।

(४) सामाजिक स्वस्थ परम्पराओं की सुरक्षा करते हुए उनको बालकों को उपलब्ध कराया जा सके जिनसे समाज के उद्देश्यों और आदर्शों की रक्षा हो सके और सामाजिक, नागरिक और राष्ट्रीय गुणों का विकास हो।

(५) अतीत के अनुभवों से लाभ उठाते हुए वर्त्तमान जीवन को उसके पूर्ण रूप में रहते हुए भविष्य के जीवन की तैयारी की जा सके।

बुनियादी शिक्षा का एक सामाजिक उद्देश्य भी है जिसमें उसको सामाजिक क्रान्ति का साधन भी माना गया है। इस दृष्टि से व्यक्ति, के साथ-साथ समाज का नव-निर्माण भी इसका एक लक्ष्य है। इसको जीवन द्वारा जीवन की शिक्षा
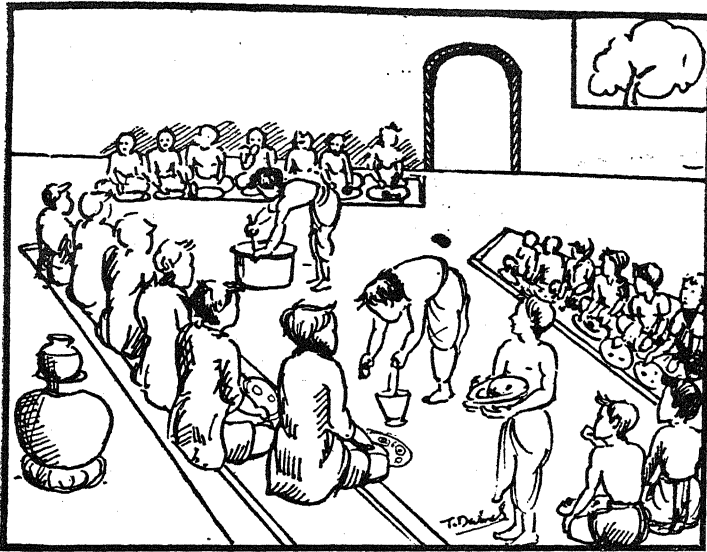
सामूहिक भोजन

भ्रातृत्व की भावना का पोषक है।
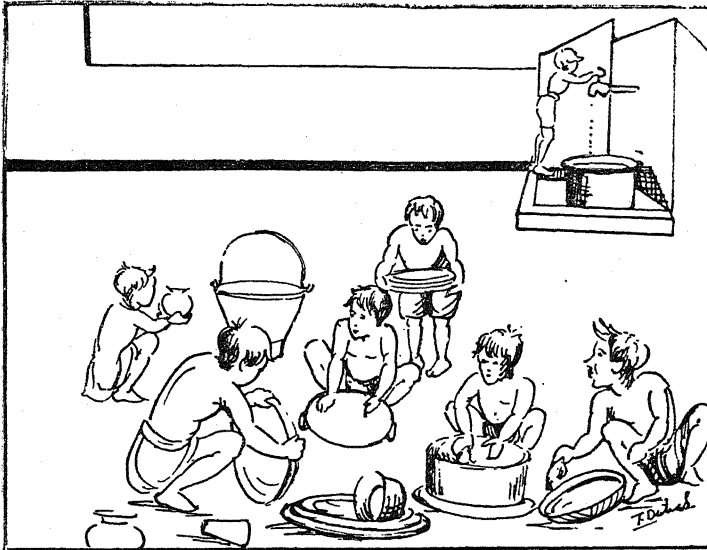
बर्तन सफाई

यह भी दैनिक जीवन के कार्यों में स्वावलम्बन का अंग है। स्वयं की अनुभूति इस प्रकार के कार्य करनेवालों के प्रति सहानुभूति और श्रद्धा पैदा करती है।

भी हो गया है। इस दृष्टि से जीवन में श्रम, सहयोग, समता और सेवा की भावना जाग्रत करने के लिए बुनियादी संस्था का संगठन एक पारिवारिक रूप में किया जाना चाहिये। यद्यपि परिवार के सबके अधिकार, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व भिन्न-भिन्न होते हैं तो भी परिवार का विकास सबका समान लक्ष्य होता है। इसमें व्यक्ति और परिवार दोनों का ही विकास होता है। संगठन, संचालन और स्वावलम्बन से सहयोग की भावना का उदय होता है। उपलब्ध साधनों का उपयोग और जीवन प्रयोगों के अवसर प्राप्त होते हैं जिनसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होता है। इस प्रकार के सुसंगठित पारिवारिक जीवन में प्रत्येक सदस्य को संयम और सादगी का अभ्यास करना पड़ता है और धर्म-सम्प्रदाय सम्बन्धी भेद-भाव दूर होकर धार्मिक सहिष्णुता की भावना जगती है। इस प्रकार के पारस्परिक प्रेम सौहार्द, सहयोग तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से स्वस्थ वातावरण का निर्माण होता है। उनके नैतिक गुणों के विकास के लिए सामूहिक प्रार्थना, स्वाध्याय, सांस्कृतिक सभाएँ तथा लोक-साहित्य का अवलोकन और सृजन सहायक होते हैं। उनके विद्यालय समाज का व्यक्तिगत और सामूहिक स्वावलम्बन, जनतांत्रिक प्रशासन तथा सांस्कृतिक उन्नयन शाला को एक आदर्श समाज का रूप दे देता है और इस प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ सुनियंत्रित की जाकर उचित दिशा में नियोजित और विकसित की जा सकती हैं। अतएव विद्यालय में निम्नलिखित कार्यक्रमों को स्थान मिलना चाहिये :—

(१) **दैनिक प्रार्थना.**—छात्रावासयुक्त विद्यालयों में प्रातः तथा सायंकालीन प्रार्थनाओं का स्थान आध्यात्मिक शक्ति के विकास, चित्त की शान्ति तथा आत्म-विश्वास के लिए महत्त्व का है। एक नियत समय को लगनेवाले स्कूलों में कम-से-कम एक बार प्रार्थना अवश्य होनी चाहिए। इसमें भावपूर्ण भजनों तथा यथासम्भव सब धर्मों के मूल तत्त्वों को स्थान मिलना चाहिए। सांस्कृतिक विकास का एक यह अच्छा साधन है।

(२) **सफाई और स्वास्थ्य.**—इसमें सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के कार्यक्रमों का समावेश होना चाहिए। सुविधानुसार साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक विशेष आयोजनों द्वारा सार्वजनिक स्थानों की स्वच्छता की भी योजना आवश्यक है। पास-पड़ोस की सफाई तथा उसके वातावरण का प्रभाव भी व्यक्तिगत और सामूहिक मनोवृत्ति पर पड़ता है। इस प्रकार जीवन में

नियमितता और संयम के अभ्यास के लिए अधिक-से-अधिक अवसर प्राप्त होना चाहिए। उद्योग की योजना शारीरिक श्रम को अवसर प्रदान करती है; किन्तु स्वास्थ्यपूर्ण खेलों तथा व्यायाम का आयोजन स्वस्थ मनोरंजन और शारीरिक स्वास्थ्य का साधन प्रस्तुत करता है। यथासम्भव एक आरोग्य-केन्द्र का संचालन भी इस दिशा में एक उपयोगी प्रयास होगा। बालकों की नाप-तोल भी रखी जानी चाहिए।

(३) **भोजनालय.**—छात्रावासयुक्त शालाओं में तो इसका अनिवार्य स्थान है ही, जिसमें उपलब्ध सामग्री द्वारा स्वास्थ्यप्रद और समतोल भोजन दिया जा सके। आवश्यक भोजन की सामग्री पैदा करना, संग्रह करना और भोजन के तरीकों में सुधार कर उसको रुचिपूर्ण और स्वास्थ्यप्रद बनाना यह इस विभाग का काम होगा। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि बालकों को योग्यतानुसार पदार्थों का जीवन-मूल्य, उनके द्वारा प्राप्त ताप, और तत्त्व और उनकी उपयोगिता का ज्ञान कराया जाय। सहयोग और स्वावलम्बन के लिए भोजनालय भी एक अच्छा साधनहै। छात्रावास न होने की दशा में विशेष अवसरों पर आयोजित अल्पाहार तथा वन-भोजनों के आयोजन से किन्हीं अंशों तक इस उद्देश्य की पूर्त्ति हो सकती है। बालकों द्वारा ही उनके कार्य की योजना बनवाई जाय और पारस्पकि सहयोग से वे उसे कार्यान्वित करें।

(४) **जनतन्त्रीय प्रशासन.**—इस विषय पर पृथक् से विस्तृत प्रकाश डाला गया है। तात्पर्य यह है कि शाला की संसद् का स्वयं का संगठन, विधान, मन्त्रि-मण्डल आदि होगा। उनके कर्त्तव्य और अधिकार स्पष्ट होंगे। उचित कार्य-विभाजन होगा। पूरा समाज एक सहयोगी और स्वाश्रयी स्वसंचालित समाज के रूप में काम करेगा।

(५) **उद्योग-विभाग.**—भोजन, वस्त्र और आवास—ये जीवन की मूल आवश्यकताएँ मानी गई हैं। इन्हीं के साथ सफाई, स्वास्थ्य और आनन्द विधायक कार्यक्रमों का स्थान है। उद्योग-विभागों में बालक इस दिशा में अभ्यास करेंगे। उपयोगी वस्तुओं का निर्माण उनका लक्ष्य होगा जो उनकी व्यक्तिगत तथा सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करें उनको प्राथमिकता दी जायगी। इसके साथ-ही-साथ, ग्रामोद्योगों तथा अन्य उपयोगी गृह-उद्योगों से परिचित कराने का भी प्रयत्न किया जायगा। राष्ट्रीय जीवन में बड़े-बड़े उद्योगों का क्या स्थान है, उनकी क्या व्यवस्था है, इसकी जानकारी भी दी

जाना उपयोगी होगा। विभागों के साधनों, सामान और कच्चे माल की उचित व्यवस्था रहे, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

(६) **सांस्कृतिक कार्यक्रम.** —इसके द्वारा बालकों का सांस्कृतिक एवं नैतिक विकास होता है। सात्विक अहिंसात्मक मनोरंजन होता है। हृदय की भावनाओं का परिष्कार होकर मानसिक जागरूकता होती है। लोक-साहित्य, लोक-संस्कृति के प्रति अनुराग तथा उसकी परम्पराओं को पुनर्जीवन प्राप्त होता है। समाज-रचना और लोक-मंगल की भावना का उदय होता है। रचनात्मक और सृजनात्मक प्रवृत्तियों का विकास होता है। विशेष पर्व-त्योहारों पर आयोजित समारोहों द्वारा इन उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता मिलती है। वर्ष के प्रारम्भ में इन आयोजनों की एक सुनिश्चित रूपरेखा शाला के वार्षिक चक्र में बना लेना उचित होगा।

(७) **बच्चों का बैंक.** —इसकी व्यवस्था बालकों द्वारा ही शिक्षक के मार्ग-दर्शन में होना चाहिए। बालकों में मितव्ययता की आदत पड़ेगी और अपनी बचत को उपयोगी कामों में लगाने के अभ्यासी बनेंगे। आवश्यकता पड़ने पर छोटे-मोटे खर्चे बालक स्वयं अपनी बचत से ही कर सकेंगे। शिक्षक खर्च करने की प्राथमिकता के लिए बालकों का मार्गदर्शन करें। यह अभ्यास उनको उनके भविष्य के पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के संचालन में सहायक होगा।

(८) **शाला की सहकारी दूकान.**—शाला के लिए यह भी एक उपयोगी संस्था है, जिसमें शाला के समाज के लिए आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध हो सकेंगी। इसके द्वारा न केवल आवश्यक सामान उपलब्ध होने की ही सुविधा होगी वरन् सहकारिता के सिद्धान्तों का व्यावहारिक अभ्यास हो सकेगा। इन सब कार्यों के लिए एक शिक्षक को मार्गदर्शन के लिए नियत किया जाना उचित है जो सहकारी समिति के उचित नियम बनाने में और संचालन में मार्ग-दर्शन कर सकें।

(९) **शाला का आरोग्य भवन.**—एक छोटी धनराशि से कुछ आवश्यक और उपयोगी दवाओं आदि का संग्रह रखा जा सकता है। यदि यह पूरा आठ कक्षाओं का बेसिक स्कूल है तो बड़ी उम्र तथा बड़ी कक्षा के बालकों की सेवाएँ बारी-बारी से उपलब्ध हो सकती हैं। इस प्रकार बालक प्राथमिक सहायता के कार्यक्रम से भी परिचित होंगे और उनको अभ्यास भी मिलेगा। धीरे-धीरे

इसका विस्तार ग्राम के आरोग्य-केन्द्र के रूप में किया जा सकता है जो सामाजिक सम्पर्क का एक अच्छा साधन होगा।

(१०) **पत्रिका-प्रकाशन.**—शाला पत्रिका का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें साधारणतः पाठशाला का कार्यक्रम, शाला कार्यों की रिपोर्ट, आयोजनों का विवरण, अतिथियों के भाषण, प्रयोगों का परिचय, नवीन सुझाव, समस्याएँ और उनका निराकरण, शाला की प्रवृत्तियों का परिचय और प्रयोगों के परिणाम, प्रमुख समाचारों का संकलन और प्रकाशन हेतु चयन, समाचार-समीक्षा, शैक्षणिक यात्राओं, विचार-संगोष्टियों और परिषदों का विवरण, त्योहारों पर्वों का सांस्कृतिक महत्त्व, उनके मनाने के भिन्न-भिन्न ढंग और लोक-साहित्य, आदि को स्थान मिलना चाहिये।

(११) **साहित्य-सृजन.**—प्रत्येक शाला में इस दिशा में भी प्रयास होना उसकी प्रगति का एक अंग है। बालकों द्वारा तथा शिक्षकों द्वारा रखे गये आलेख उनकी स्वाध्याय-पुस्तिकाएँ, अध्यापन पुस्तिकाएँ, समवायिक विवरण योजनाएँ, प्रयोगों के विवरणों आदि अर्जित ज्ञान के आधार पर साहित्य-सृजन में पर्याप्त योगदान मिल सकता है।

(१२) **शैक्षणिक यात्राएँ**—शिक्षा का यह एक उत्तम मनोरंजन का ही साधन है। इसके द्वारा प्राकृतिक तथा सामाजिक अध्ययन के पर्याप्त अवसर मिलते हैं। कार्यक्रम निश्चित और योजनाबद्ध होना चाहिये।

(१३) **शाला ग्राम का एक केन्द्र**—ग्राम-रचना नई तालीम का एक उद्देश्य है। जनसम्पर्क इसका एक साधन है। सामूहिक सेवा-कार्य, आयोग्य-केन्द्र-संचालन, सांस्कृतिम आयोजन, शिविर-संचालन, स्वस्थ मनोरंजन, प्रतियोगिता-सम्मेलन, उत्सव व त्योहारों का आयोजन, सामूहिक प्रार्थना, शैक्षणिक मेला, परिभ्रमण, स्वध्याय-मंडल, पुस्तकालय, समाज-शिक्षा-केन्द्र आदि द्वारा सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। खाली समय में पाठशाला-भवन को पंचायत आदि के उपयोग के लिए दिया जाय। लोक-संगीत, लोक-नृत्य, लोक-नाटकों का आयोजन किया जाय। चलचित्र-प्रदर्शन भी एक अंग हो सकता है। इन कार्यक्रमों में ग्रामवासियों का क्रियात्मक सहयोग प्राप्त किया जाय। शाला को चाहिये कि ग्रामीण समाज की आवश्यकताओं और साधनों की खोज करे और यथासम्भव उनके विकास में योगदान दे। स्वास्थ्य, पोषण भोजन, पानी, सफाई व स्वच्छता की समस्याएँ खोज के पर्याप्त साधन

उपलब्ध करती हैं। प्रकृतिदत्त साधनों और समाज के सहयोग को किस प्रकार जनोन्नति में उपयोग किया जा सकता है इसकी खोज की जाय जिससे ग्राम की आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हो सके। शाला के पुस्तकालय के उपयोग का विस्तार ग्रामवासियों के लिए किया जाय। शाला को सामुदायिक विकास योजना और विस्तार सेवा खण्डों के कार्यक्रमों से अवगत रहकर उसमें योगदान देना चाहिये। शाला की सामाजिक सेवा की योजना द्वारा कुछ निश्चित योजनाएँ हाथ में लेना चाहिये जैसे स्कूल का अहाता बनाना, खेल का मैदान बनाना, शाला-भवन का निर्माण करना, शौचगृह बनाना, छोटी सड़कें व पुलियाँ बनाना, भवन-निर्माण की सामग्री बनाना, छूत के व संक्रामक रोगों में उपचार व सावधानी सुझाना आदि। अच्छा हो यदि यह सब कार्य शाला के शिक्षकों में उनकी रुचि, योग्यता और क्षमता के अनुसार विभाजन कर दिया जाय जिससे वे एक-एक दल का संगठन और संचालन कर सकें और शिक्षार्थी उनके निर्देशन में भले प्रकार से कार्य कर सकें।

(१४) **उद्योग-भवन व कारखाना.**—इसमें बालकों को उनकी रुचि के अनुसार सामग्री निर्माण करने की सुविधा व साधन उपलब्ध होना चाहिये। आवश्यकतानुसार शिक्षक की सहायता भी सुलभ हो। यहाँ आनन्ददायक सृजन का वातावरण रहे। यह केवल एक हॉबीज सेक्शन की भाँति संचालित हो। काष्ठकला तथा गत्ते, कागज व मिट्टी का काम आदि छोटे-मोटे उद्योग इसमें चलाये जा सकते हैं। साथ ही इसमें लेबिल साइनबोर्ड, विज्ञापन, पोस्टर आदि का निर्माण तथा शाला की दूकान से सम्बन्धित चित्रकारी, वार्निश आदि अनेक काम हो सकेंगे।

मूलोद्योग एक नियमित योजना के साथ चलता रहेगा। केवल कताई-बुनाई व खेती-बागवानी मात्र ही मूलोद्योग है, यह सोचना भ्रमात्मक है। अन्य उद्योग जो शिक्षा के साधन बनाये जा सकते हैं उन्हें भी मूलोद्योग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

(१५) **शाला की दूकान.**—शाला की दूकान में उत्पादित सामग्री का प्रदर्शन तथा विक्रय भी होगा। साधारणतः इसका उद्देश्य जनता के लिए आवश्यक सामग्री सुलभ करना है बल्कि बालकों के लिए खेल के रूप में एक रुचिकर शैक्षणिक योजना प्रस्तुत करना है जिसके द्वारा वे वस्तुओं का वर्गी-

करण, व्यवस्था, सजावट, नापना, तोलना, हिसाब रखना और ग्राहकों के प्रति सभ्य एवं सौजन्यतापूर्ण व्यवहार करने का अभ्यास कर सकेंगे।

मूलोद्योग के संचालन तथा दूकान की व्यवस्था द्वारा बालकों को निम्न-लिखित लाभ होंगे:—

(१) उत्पादित सामग्री का लेखा-जोखा रखने तथा उसकी सुरक्षा एवं क्रय-विक्रय की व्यवस्था करते-करते उकी व्यवहार-बुद्धि पुष्ट होगी।

(२) उद्योग-शाला अथवा दूकान की साज-सज्जा की देख-भाल, उनमें होनेवाली टूट-फूट की मरम्मत एवं आवश्यकतानुसार उसका रूप-परिवर्तन करते रहने से वे स्वावलम्बी और मितव्ययी बनेंगे।

(३) उद्योग-सम्बन्धी हानि-लाभ का लेखा-जोखा रखने से गणित में गति प्राप्त होगी।

(४) वे स्वाभावतः उद्योग-विषयक साहित्य के अध्ययन में प्रवृत्त होंगे।

(५) उद्योग-सम्बन्धी निरीक्षण एवं परीक्षण से उनके प्रयोगात्मक अनुभव की वृद्धि होगी।

(६) जीवन में सक्रियता रहने से उनका स्वास्थ्य उन्नत होगा।

(१६) **बाह्य जगत एवं समाज.**— शाला के बाहर, बालक आस-पास के खेतों, बाग-बगीचों, पेड़-पौधों, कीड़े-मकोड़ों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और वन-पर्वतों का निरीक्षण करते हुए तत्सम्बन्धी प्राकृतिक ज्ञान प्राप्त करेंगे। इसी प्रकार जनसम्पर्क में आकर जन-संख्या, धन्धे-रोजगार, कच्चे-पक्के मकानों, पालतू जानवरों, सवारियों, प्राचीन भवनों अथवा स्मारकों, शासकीय कार्यालयों आदि का परिचय प्राप्त करेंगे। साथ ही प्रकृति की गोद में विचरण करते हुए वे जिन वस्तुओं का संग्रह करेंगे अथवा जन-जीवन के सम्पर्क में आकर वे जो मानचित्र आदि बनायेंगे अथवा ग्राम-गीतों या विवरणों का संकलन करेंगे, वह सब शाला के संग्रहालय की शोभा बढ़ायेंगे।

(१७) **सामाजिक जीवन की प्रवृत्तियाँ.**—आधुनिक शिक्षा विज्ञापन में पाठशाला की समाज के एक लघुरूप में ही नहीं वरन् स्वयं समाज के रूप में ही

कल्पना की गई है जिसमें समाज की समस्त वृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होनी चाहिये। ऐसी दशा में सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक सभी प्रवृत्तियाँ बुनियादी शाला के अविभाज्य अंगों के रूप में हमारे सामने आती हैं, यथा—

(१) स्वायत संस्था के रूप में बाल-सभा का आयोजन।
(२) किसी कार्य की योजना बनाना।
(३) उत्सवों, त्योहारों तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन।
(४) पाठशाला की सफाई एवं सजावट तथा स्वास्थ्य की व्यवस्था आदि।
(५) समाज-सेवा-सम्बन्धी कार्यों की सामूहिक योजना।
(६) यथासम्भव सामूहिक भोजन अथवा अल्पहार की व्यवस्था।
(७) पुस्तकालय एवं वाचनालय की व्यवस्था।
(८) हस्तलिखित पत्रिका का प्रकाशन।
(९) लोक-गीत, लोक-नृत्य, अभिनय, आकृतियों अथवा खेलों द्वारा स्वस्थ मनोरंजन का आयोजन।
(१०) प्रदर्शनी की व्यवस्था।
(११) बालकों, पालकों तथा शिक्षकों का सामूहिक सम्मेलन।
(१२) विशेष आयोजन (सामूहिक प्रार्थनाएँ आदि)।

(१८) **अध्ययन कक्ष में**—उद्योग-शाला, दूकान, पर्यटन एवं भ्रमण, सामाजिक अध्ययन तथा लोक-जीवन की प्रवृत्तियों पर आधारित अभ्यास तथा ज्ञान कक्षा में कराया और दिया जायगा। रेकार्ड, आलेख, विवरण, अध्ययन, मौखिक भाव प्रकटन, संग्रह, सजावट, रचना, व्यवस्था, हिसाब, लेखा, नाप-तोल, चित्रकारी. रंगसाजी, पुस्तकालय का उपयोग, शंकाओं का समाधान, समस्याओं का निराकरण, शिक्षका निर्देशन आदि कक्षा में शिक्षण कार्यक्रम के अंग होंगे। यह कार्यक्रम स्वाभाविक समवाय के अवसर प्रस्तुत करेगा। तात्पर्य यह है कि उद्योग, प्रकृति एवं समाज तीनों को ही शिक्षा-केन्द्र मानकर समवाय की स्वाभाविक योजना बनाई जा सकती है। यदि कोई

ऐसी बात सिखाना आवश्यक जान पड़े जिसके लिए इस योजना में गुंजायश न हो तो वह स्वतन्त्र रूप में सिखाई जा सकती है, खींचतान कर उसका सम्बन्ध योजना से जोड़ने में कोई लाभ नहीं होगा ।

बुनियादी शाला समाज-निर्माण का केन्द्र होगी, और उसका उद्देश्य होगा समाज-सेवा के साथ-साथ शिक्षा-साधन । शाला के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही स्वरूप शिक्षार्थी के जीवन पर प्रभाव डालते हैं । परिस्थितियों के अनुसार साधारण से हेर-फेर के अतिरिक्त ग्रामीण तथा शहरी पाठशालाओं के स्वरूप में अधिक भिन्नता न होनी चाहिये । बाह्य स्वरूप का विचार करते हुए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखने का आवश्यकता है:—

(१) शाला-भवन विद्यार्थियों की संख्या के अनुसार विस्तीर्ण, हवादार, प्रकाशयुक्त, शाला के उद्योग तथा अन्य प्रवृत्तियों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनेवाला, भिन्न-भिन्न ऋतुओं एवं स्थानीय वातावरण के अनुकूल और यथासम्भव स्थानीय सामग्री से ही बना हुआ हो । इस विषय पर पृथक् से प्रकाश डाला जा रहा है । बड़े-बड़े शाला-भवनों की अपेक्षा उचित शिक्षकों तथा सामान सज्जा का होना आवश्यक है । भारतवर्ष का मौसम बरसात के अलावा सब ऋतुओं में मैदान और वृक्षों की छाया में शाला का स्थान ले सकता है ।

(२) अहाताबन्दी के लिए शाला के चारों ओर स्थानीय सुविधाओं के अनुसार कांटेदार तार, पत्थरों या ईंटों की दीवार, मिट्टी की कच्ची दीवार बांस या लकड़ी का कटघरा, अथवा वृक्षों, मेंहदी की घनी झाड़ियों या इसी प्रकार अन्य कांटेदार झाड़ियों की व्यवस्था की जानी चाहिये । अहाते की सफाई तथा शाला की सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिए ऐसा करना आवश्यक है ।

(३) प्रवेश द्वार पर शिक्षालय के नाम की पट्टिका (साईन-बोर्ड) हो तथा वह बेलों आदि से सुसज्जित हो । प्रवेश-द्वार से शाला तक लगभग १० फुट चौड़ी सड़क हो जिसपर गाड़ी व ठेले जा सकें । इस चौड़ी सड़क के बीच में तीन या चार फुट चौड़ी छोटी सड़कें निकाली जायें व इनके किनारे फूलों व शाक-सब्जियों की विभिन्न आकृतियों की कलात्मक क्यारियाँ बनवाई जायें ।

(४) निकट ही किसी ऊँचे-से स्थान पर कुआं होना चाहिये। यहाँ पर पानी के दो होज हों—एक पानी का संग्रह करने तथा दूसरा पानी वितरण करने के लिए। हौज के पास एक पक्का-सा चबूतरा हो और हौज में दो-चार नल लगे हों जिनको आवश्यकता पड़ने पर सामूहिक रूप से काम में लाया जा सके। उपयोग में लाये हुए पानी को बगीचे में लेजाने के लिए नालियाँ बनी हुई हों।

(५) कुएँ से कम-से-कम ५० गज की दूरी पर कम्पोस्ट पिट हो तथा अन्य उपयुक्त स्थानों पर बालकों की संख्या के अनुसार खाईदार पाखाने तथा पेशाबघर होने चाहिये। प्रति २५ बालकों के लिए खाईदार एक पाखाना तथा १५ बालकों के लिए एक पेशाबघर होना चाहिये। इस प्रकार का एक पेशाबघर छः माह में एक एकड़ भूमि के लिए पर्याप्त खाद दे सकता है। कूड़ा डालने के लिए निश्चित स्थानों पर गड्ढे बनाना अथवा डलियाँ या पीपे के डिब्बे रखना उचित होगा।

(६) मूलोद्योग तथा शाला की अन्य प्रवृत्तियों से सम्बन्धित सामग्री पर्याप्त हो तथा उसे यथास्थान व्यवस्थित रखे जाने का प्रबन्ध हो और नियमित रूप से उसकी सफाई का ध्यान रखा जाता हो।

(७) पाठशाला में एक पुस्तकालय एवं वाचनालय हो। इसमें बालोपयोगी, शिक्षकोपयोगी तथा ग्रामोपयोगी सभी प्रकार के साहित्य का संग्रह हो।

(८) इसमें बालकों तथा समाज के सामूहिक एवं स्वस्थ मनोरंजन के साधनों की समुचित व्यवस्था हो।

बुनियादी शाला के आन्तरिक स्वरूप की रूपरेखा इस प्रकार की होगी कि:—

(१) पाठशाला के पूरे वर्ष की एक सुनिश्चित कार्य-योजना हो, जो वर्ष के कार्य के दिनों तथा कार्य के अनुसार बनाई जाय। इसके बनाने में शाला के प्रधानाध्यापक, शिक्षक तथा विद्यार्थी सभी सम्मिलित हों। वार्षिक योजना का विभाजन मासिक, पाक्षिक तथा साप्ताहिक क्रम से हो। विद्यार्थी व शिक्षक अपने-अपने कार्य की डायरी रखें व प्रति मास निश्चित योजना के अनुसार कार्य हुआ या नहीं इसपर विचार करें। निर्धारित योजनाओं की प्रतिलिपि ऐसे स्थानों पर टंगी रहे जहाँ उसे सुविधा से शिक्षक और बालक देख सकें।

(२) पृथक्-पृथक् प्रयत्नों की अपेक्षा योजना को सामूहिक प्रयत्नों द्वारा पूरा करने का लक्ष्य शिक्षकों के समक्ष रहना चाहिये। विशेषकर जब नई तालीम में मूलोद्योग तथा इसी प्रकार की अन्य क्रियात्मक प्रवृत्तियों को प्रधानता दी गई है तब उद्योग-शिक्षक व अन्य शिक्षक बिना एक-दूसरे के निकट सम्पर्क स्थापित किये योजना को उसके सही रूप में न तो कार्यान्वित ही कर सकते हैं और न स्वाभाविक समवाय ही सम्भव हो सकता है।

(३) विद्यालय का रेकार्ड, जिसे निम्नलिखित चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, ठीक-ठीक रखा जाता हो तथा अन्य आलेख भी यथोचित ढंग से रखे जाते हों और यथासमय शिक्षकों तथा प्रधानाध्यापक द्वारा उनकी जाँच होती हो:—

(अ) बालकों द्वारा।
(ब) शिक्षकों द्वारा।
(स) कक्षा द्वारा (सामूहिक)।
(द) कार्यालय द्वारा।

इनमें से प्रत्येक का विस्तृत विवरण अन्यत्र दिया जा रहा है।

(४) बुनियादी शालाओं की कल्पना समाज-निर्माण के केन्द्रों के रूप में की गई हो, अतः उनका कार्यक्रम ऐसा होना चाहिये जिससे बालकों को साक्षरता के साथ-साथ स्वावलम्बन स्वास्थ्य-रक्षा तथा सदाचार की शिक्षा भी प्राप्त हो सके।

स्वावलम्बन से हमारा तात्पर्य वैयक्तिक स्वावलम्बन से ही नहीं, शाला और समाज को भी स्वावलम्बी बनने से है।

स्वास्थ्य व स्वच्छता का घनिष्ट सम्बन्ध है। पाठशाला अपने स्वच्छ व स्वस्थ वातावरण को अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा समाज के कोने-कोने तक पहुँचा सकती है।

साक्षरता की समस्या भी पाठशाला के सामूहिक प्रयत्नों से हल हो सकती है। यदि समाज पाठशाला में नहीं आता तो पाठशाला को समाज तक पहुँचना होगा। ग्राम को कई केन्द्रों में बाँटकर साक्षरता-प्रसार-दलों द्वारा यह कार्य किया जा सकता है।

शाला को आचरण की टकसाल तो होना ही चाहिये। शिक्षक का रहन-सहन ऐसा आदर्श होना चाहिये कि उसका प्रभाव न केवल बालकों पर वरन्

सारे समाज पर पड़े और समाज उसके तथा उसकी शाला के जीवन से प्रभावित एवं अनुप्राणित हो ।

बुनियादी शाला के शिक्षकों तथा बालकों का समाज अपने आप में समाज की एक ऐसी इकाई है जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा अन्य समाजोपयोगी सामग्री के उत्पादन में लगा हुआ है । इसका उद्देश्य यंत्रवत् केवल सामग्री का उत्पादन करना ही नहीं है वरन् किसी उत्पादक उद्योगकी विविध प्रक्रियाओं तथा उनसे सम्बन्धित अन्यान्य तथ्यों का ज्ञान प्रदान करते हुए बालकों को ऐसी शिक्षा प्रदान करना है जो उनके व्यावहारिक जीवन में काम आ सकें । बुनियादी शाला के बालकों का जीवन साधारण शाला के बालकों के जीवन से बिलकुल भिन्न होगा क्योंकि यहाँ वे कक्षा की चाहरदीवारी में बन्द न रहकर पाठशाला की उद्योग-शाला में तथा पाठशाला के बाहर सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न व्यापारों में व्यस्त रहेंगे । बुनियादी शालाओं का क्षेत्र केवल अध्यापन-कक्षों तक ही सीमित नहीं होगा, प्रत्युत उसमें उद्योग-शाला, शाला की दूकान, बाह्य जगत् एवं सामाजिक जीवन और उसकी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का भी समावेश होगा ।

समय-विभाग-चक्र

प्रत्येक कार्य को सफलता के साथ सम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि उस कार्य की योजना पूर्व में बना ली जाय। शिक्षण का कार्य इसका अपवाद नहीं है। शिक्षा के लिए जैसे एक निर्धारित शिक्षा-क्रम की आवश्यकता है उसीके अनुसार कार्य की वार्षिक, मासिक, साप्ताहिक तथा दैनिक योजना की आवश्यकता है। जब दैनिक योजना का प्रश्न प्रस्तुत होता है तब समय-विभाग-चक्र को एक प्रमुख स्थान प्राप्त हो जाता है। अतएव शिक्षालय की समुचित प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि कार्यकर्त्ता शिक्षा क्रम, योजना, कार्य के सिद्धान्त और उद्देश्य तथा तदनुकूल उनको कार्यरूप में परिणत करने के लिए एक उचित प्रकार के समय-विभाग-चक्र के महत्त्व को समझे और उसके अनुसार कार्य को तत्पर रहे। वास्तव में कार्य को समय और कार्यकर्त्ताओं की योग्यता तथा क्षमतानुसार विभाजन करना शिक्षालय के शासन में शरीर में हृदय की प्रक्रिया से तुलना की गई है।

समय-विभाग-चक्र को शिक्षालय की दूसरी घड़ी कहा गया है। जिस प्रकार घड़ी में सेकण्ड, मिनिट व घन्टे का काँटा पृथक्-पृथक् रूप से चलते हुए भी अपनी गति में समन्वय रखते हैं, ठीक उसी प्रकार से शाला के समस्त कार्यकर्त्ता अपनी समन्वित गति से कार्य करते हुए शालारूपी घड़ी का संचालन करते रहते हैं। उसमें अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक का कार्य महत्त्व का है। उनको अपना काम तो ठीक प्रकार से करना ही होगा, साथ ही दूसरों की गतिविधि से भी सामंजस्य स्थापित करना होगा। समय-विभाग-चक्र से उद्देश्य में दृढ़ता, कार्य में नियमितता, समय व शक्ति की मितव्ययता, निर्धारित लक्ष्य की पूर्त्ति, कार्य की व्यवस्था, पाठ्य विषयों के अनुकूल समय का क्रम तथा विभाजन, विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के कार्य की सुनिश्चित दिशा, कार्यकर्त्ताओं और शिक्षार्थियों में पद्धतिपूर्ण कार्य करने का अभ्यास, कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूकता आदि गुणों की प्राप्ति होती है।

समय-विभाग-चक्र में निम्नलिखित बातों का ध्यान दिया आना आवश्यक है :—

(१) किस समय क्या कार्य किया जानेवाला है तथा वह काम किसके निर्देशन में किया जाना है। इस कार्य के लिए एक पूरी शाला की पूरे कार्य का समय-विभाग-चक्र होगा। दूसरा कार्यकर्त्ताओं का काम-विभाजन बतानेवाला चक्र होगा। तीसरे कक्षा के कार्य का समय व कार्य विभाजन-चक्र होगा। एक कक्ष में यदि कई कक्षाओं के आवागमन की व्यवस्था हो तो उस कक्ष में पृथक् रूप से समस्त कक्षाओं के समय-विभाग-चक्र की आवश्यकता होगी। प्रधान के कक्ष में एक ऐसे चक्र की भी आवश्यकता है जो यह बतावे कि किस समय किस शिक्षक या कार्यकर्त्ता का समय खाली है जिससे समय पड़ने पर उसको दूसरे काम में लाया जा सके।

समय-विभाग-चक्रों की प्रतिलिपियाँ प्रधान के कक्ष में, अध्यापकों के कक्ष में, अध्यापन-कक्ष में तथा विद्यार्थियों के लिए सूचना-पट पर होना आवश्यक है।

(२) समय-विभाग-चक्र में अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त शाला की अन्य प्रवृत्तियों तथा अतिरिक्त कार्यक्रमों को निर्धारित समय तथा कार्य-विभाजन का दर्शाया जाना भी आवश्यक है जिससे अध्यापन-कार्य के साथ इन प्रवृत्तियों को भी उचित स्थान मिलता रहे। शिक्षा में इस नये मोड़ के कारण शाला की अतिरिक्त प्रवृत्तियों ने एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। यहाँ तक कहा जाने लगा है कि पाठ्यक्रम में निर्धारित प्रवृत्तियों ने अतिरिक्त प्रवृत्तियों का स्थान प्राप्त कर लिया है और अतिरिक्त कार्यक्रम जो गौण माने जाते थे उन्होंने प्रधान प्रवृत्तियों का स्थान प्राप्त कर लिया है।

(३) घर पर दिया जानेवाला कार्य का भी निश्चित और स्पष्ट विभाजन किये जाने की आवश्यकता है। इसके अभाव में या तो शिक्षार्थी भिन्न-भिन्न शिक्षकों द्वारा दिया गया कार्य पूरा नहीं कर पाता और कार्य में अनियमितता बढ़ती है अथवा विद्यार्थियों पर अनावश्यक बोझ बढ़ जाता है। इसलिए इस कार्य की एक निश्चित योजना होना चाहिये। शिक्षकों की परिषद् में शिक्षण-वस्तु की आवश्यकतानुसार यह निर्धारित किया जाना आवश्यक है। अच्छा हो यदि विभिन्न विषयों के लिए दिये जानेवाले कार्य की मात्रा तथा दिन निर्धारित कर दिये जायें। कहीं-कहीं यह भी देखा गया है कि पढ़ानेवाले शिक्षक

एक डायरी में दिये गये कार्य को नोट कर देते हैं और दूसरे शिक्षक उसके अनुकूल ही अपने विषय में कार्य देते हैं; किन्तु यह पद्धति भी कोई स्वस्थ परिणाम नहीं दे सकती है इसलिए कार्यकर्त्ता शिक्षकों के बीच इस नीति का निर्णय तथा निर्धारण आवश्यक है।

(४) अध्यापन-कार्य पर शिक्षा के उद्देश्य तदनुसार शाला के उद्देश्य तथा उसके अनुकूल पाठन-वस्तु तथा शाला की प्रवृत्तियों का आपेक्षित महत्त्व, उद्देश्यपूर्ति के साधन, पाठन-पद्धति भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थिति आदि का प्रभाव पड़ता ही है। इन दृष्टियों से प्रत्येक शाला में उसकी आवश्यकतानुसार उसके-समय-विभाग-चक्र में भिन्नता होना भी सम्भव है। समय-विभाग-चक्र में जब विषयवार कार्य-विभाजन किया जाता है तब इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है कि:—

(१) किस विषय को किस क्रम से रखा जाय। अधिक मानसिक शक्ति तथा अवधान चाहनेवाले विषयों को पहले रखना होगा जब कि बालक ताजा होते हैं।

(२) किस विषय को कितना समय दिया जाय यह भी विषय की कठिनता तथा सरलता के अनुपात से रखना होगा। कभी-कभी शिक्षकों के अभाव तथा शिक्षकों की लम्बे समय तक अनुपस्थिति के कारण भी समय में हेर-फेर की आवश्यकता होती है।

(३) किस विषय को पढ़ाने के लिए विद्यार्थियों की कितनी संख्या रखी जाय। जिस विषय में शिक्षक को अधिक-से-अधिक व्यक्तिगत ध्यान देने की आवश्यकता होगी उसमें कम-से-कम विद्यार्थियों को रखना होगा।

(४) किस कार्य के लिए कौन-सा भाग उपयोग में लाया जाय। बालकों के कार्य की गतिविधि जैसी एक काल-खण्ड (पीरियड) में होती है वैसी ही लगभग दिन में भी होती है। बालक प्रातःकाल दोपहर के पूर्व ताजा रहते हैं और दिन भर के कार्य के पश्चात् दिवस के अन्त में थक जाते हैं। इसलिए मानसिक शक्ति का अधिक उपयोग लेनेवाले

कार्य प्रारम्भ में तथा कम शक्ति का उपयोग करनेवाले कार्य अन्त में रखे जाने चाहिये ।

(५) "कार्य में परिवर्तन ही विश्राम है ।" नेपोलियन की यह कहावत सत्य है । समय-विभाग-चक्र में इस नीति का अनुशीलन बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होता है । मानसिक तथा शारीरिक कार्यों के बीच इस प्रकार का विभाजन चलता रहना चाहिए जिससे स्वाभाविक हेर-फेर मिल जाता है और काम के लिए ताजगी बनी रहती है ।

(६) किन विषयों को लगातार एक से अधिक कई काल खण्डों तक रखा जाय अथवा उनका भी बीच में अन्तर देकर विभाजन कर दिया जाय, यह भी रुचि, थकान और विषय की अनुकूलता पर निर्भर है ।

(५) समय-विभाग-चक्र में थकान और विश्राम का भी यथोचित ध्यान रखना आवश्यक होगा । कुछ काल-खण्डों के बाद विश्राम व मध्यान्तर आदि दिया जाना चाहिए । ग्रीष्मावकाश में यदि इस प्रकार के अवकाश एक से अधिक भी दिए जायं तो अच्छा ही है । पहला अल्पावकाश प्रथम या द्वितीय पीरियड के बाद ही दिया जाना चाहिए, जिससे बालक पानी पेशाब कर सकें । इस प्रकार के अवकाशों की योजना से बालकों में चलने-फिरने से ताजगी भी आ जाती है और फिर कार्य के बीच में बहुत कम बालक जाते-आते भी हैं ।

बालकों को एक कक्ष से दूसरे कक्ष में आने-जाने में भी किसी अंश तक यह उद्देश्य पूरा हो जाता है जहाँ बड़ी कक्षाएँ बड़ी-बड़ी शालाओं में आती-जाती रहती हैं । यह आवश्यक है कि इस आवागमन में समय का अपव्यय अवश्य होता है; किन्तु विद्यार्थियों को एक ही स्थान पर बाँधे रहने में जो थकान का अनुभव होता है उसमें ताजगी आ जाती है । नई तालीम में जबकि शिक्षा को उद्योग-केन्द्रित कर दिया गया है तब इस प्रकार की समस्याएँ ही नहीं आतीं; क्योंकि इस योजना में शारीरिक और मानसिक कार्यों का स्वयं समन्वय होता ही रहता है ।

(६) समय-विभाजन-चक्र में बालकों की अवस्था, स्वर और मौसम के अनुसार परिवर्तन की भी आवश्यकता होगी । शिक्षकों की सुविधाओं-असुविधाओं

का भी ध्यान रखना होगा । शिक्षकों के बीच उनकी योग्यता और क्षमता के अनुकूल समान रूप से कार्य-विभाजन किया जाय।

बुनियादी शिक्षालयों में जहाँ कार्य के माध्यम से शिक्षा दी जाने की योजना है वहाँ यह आवश्यक होगा कि वर्ष भर के क्रियाशीलनों की सूची बनाली जाय और उनका किस मास में, किस सप्ताह में स्थान है यह भी पूर्व निर्धारित कर लिया जाय । इस आधार पर दैनिक क्रियाशीलनों की योजना और उनपर आधारित ज्ञान दिए जाने की योजना बनायी जाना संभव है । पाठ्य-क्रम के क्रम को न लिया जाकर शाला के क्रियाशीलनों के क्रम को लिया जाकर कार्य-योजना बनाना सुलभ और स्वाभाविक भी होगा । इस प्रकार पाठ्य-पुस्तकों के क्रम में भी हेर-फेर किया जा सकेगा । इस कार्य-योजना पर प्रकाश पृथक् से डाला जा रहा है ।

प्रायः लोगों का यह भ्रम रहा है कि बुनियादी शाला के स्कूल के घण्टे क्या हों और उनका समय-विभाग-चक्र क्या हो। इस कल्पना से ही यह ध्वनित होता है कि उन्होंने शिक्षा के काम को दिन की अवधि में ही सीमित करके बांध रखा हुआ माना है जिसके बाहर का सारा समय शिक्षा के क्षेत्र के बाहर का है । नई तालीम को जब जीवन-व्यापिनी शिक्षा माना है जो जीवन के प्रत्येक कोने को छूती है जो दैनिक जीवन के सारे क्रियाशीलनों से सम्बन्धित है । इन दो-तीन सौ वर्षों से शिक्षा की नई विचारधारा विकसित होती जा रही है जिसके प्रेरक, प्रवर्त्तक, समर्थक व पोषक रूसो, पेस्टालांजी, स्पेंसर, फ्रावेल, मान्टेसरी, टैगोर व गांधी आदि जैसे बाल-प्रकृति-पर्यवेक्षक व तत्त्वान्वेषी रहे हैं । इस विचारधारा के अनुसार बच्चे के मस्तिष्क को एक जड़ पदार्थ नहीं माना है, जिसमें जो चाहा भर दिया या मिट्टी के लौंदे की तरह जैसा चाहा गढ़ दिया । वह एक चेतन तत्त्व है जो उचित परिस्थिति में स्वयं अपनी आन्तरिक शक्तियों को सचेत तथा विकसित करता है । यदि इन शक्तियों के अंकुरित, प्रस्फुटित, पल्लवित तथा विकसित होने की अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं मिलतीं तो प्रगति की गति अवरुद्ध हो जाती है । इसलिए शाला को अपने कार्यक्रम एवं उचित समय-विभाग-चक्र द्वारा वह वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे बालकों को उनके स्वाभाविक विकास का अवसर उपलब्ध हो सके । शाला की तुलना एक बगीचे से की गई है, जिसमें बालक

उसके खिल-खिलाते हुए पौधे हैं और शिक्षक इस चैतन्य वाटिका का माली है जो उचित मिट्टी, खाद, धूप, पानी आदि की व्यवस्था करता है जिसमें पौधे अपनी गति से विकास करते हैं। इस दृष्टि से शिक्षक का कार्य है उचित अवसरों का सृजन तथा प्रस्तुतीकरण।

इस प्रकार बुनियादी शिक्षा को जीवन की शिक्षा, जीवन के लिए और जीवन द्वारा मानी जाने से दैनिक जीवन के क्रियाशीलनों के अधिक समीप रखना होगा जिसमें बच्चे की विभिन्न शक्तियाँ—शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सौन्दर्यात्मक, रागात्मक तथा कलात्मक आदि सब ही शिक्षा के अविभाज्य अंग के रूप में विकास पा सकें। इस नवीन दृष्टि के साथ बालक के दैनिक जीवन में से कुछ घण्टे काटकर शिक्षा के लिए पृथक किया जाना उसके व्यापक और गहरे अर्थ को कुण्ठित करना है। अतः शाला के दैनिक कार्यक्रम के अन्तर्गत हमको दैनिक जीवन की समस्त प्रवृत्तियों को समाविष्ट करना होगा जिनके आधार पर शिक्षा को उसके वास्तविक अर्थ में जीवन की शिक्षा और जीवन द्वारा बनाया जा सके। अब प्रश्न यह उपस्थित होगा कि सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह कथन ठीक है किन्तु इसको व्यावहारिक रूप कैसे दिया जाय। सामान्यतः सब शिक्षालय तो ऐसे नहीं होते जहाँ शिक्षार्थी छात्रावास का जीवन व्यतीत करते हों। प्रायः अधिकांश शिक्षालय ऐसे ही हैं जहां शिक्षा प्राप्त करने को बालक एक निश्चित समय में आते हैं और शेष जीवन घरों पर ही बिताते हैं। प्रायः दैनिक जीवन का चतुर्थांश ही शाला की चहारदीवारी में व्यतीत होता है और तीन-चतुर्थांश घर पर। इसका अर्थ यही हुआ कि इस तीन चतुर्थांश को शिक्षा की सीमा में कैसे आबद्ध किया जाय। इसके लिए यही सुझाव है कि शाला में बालक के जागने से सोने तक का सारे दिन का कार्यक्रम निर्धारित कर उसको समय-विभाग-चक्र में बांधा जाय। शाला के अन्तर्गत होनेवाली प्रवृत्ति को शाला में चलाया जाय और शेष दैनिक जीवन की प्रवृत्तियों को उनके दैनिक जीवन में एक निश्चित स्थान दिया जाय जिसका लेखा-जोखा उसकी दैनन्दनी में मिल सके। कभी-कभी शिक्षकों का अभिभावकों से मिलते रहना तथा छात्रों के घरू जीवन का निरीक्षण करना भी इस कार्य में सहायक तथा उपयोगी हो सकता है।

अच्छा तो यह हो कि शाला के समय को सुबह व अपरान्ह में दो समय का रखा जाय। इस योजना से बालकों को उनके दैनिक जीवन के कार्यों को

तथा स्वाभाविक विश्राम के साथ कार्य करने को समय मिल जाता है। प्राय: यह लोग शिकायत करते सुने जाते हैं कि बुनियादी शिक्षा में उद्योग, कार्य और शारीरिक श्रम को ही तीन घन्टों से अधिक का समय दिया गया है जिसमें बालकों की कोमल अवस्था में उनपर श्रम का अधिक बोझ पड़ जाता है और सैद्धान्तिक ज्ञान को पर्याप्त समय नहीं मिलता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस समय की दिखनेवाली लम्बी अवधि में उद्योग-क्रिया और उसपर आधारित ज्ञान दोनों ही सम्मिलित हैं। यह देखना तो एक चतुर और कुशल शिक्षक का ही काम है कि कार्य में बालकों की रुचि, शक्ति, अवधान, थकान आदि को ध्यान में रखकर ही कार्य-योजना बनावे।

एक स्कूल में यदि कक्षाओं के अनुसार शिक्षकों की संख्या प्रयाप्त होती है तो समय-विभाग-चक्र बनाने में कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ती है। विशेष कठिनाई तब होती है जब एक ही प्राथमिक शाला में शिक्षकों की संख्या केवल एक या दो ही होती है और विभिन्न वर्गों के बालकों को एक ही साथ बड़े कक्ष में बिठाकर उनसे भिन्न-भिन्न कक्षाओं का काम लिया जाता है। यह प्राय: हमारे देश की प्राथमिक शालाओं में अधिक स्थानों पर होता है। शिक्षा की प्रगति के साथ इस देश में तो क्या अभी बड़े-बड़े प्रगतिशाली देशों में भी एक-शिक्षक-शालाओं की संख्या कम नहीं है। किन्तु यह सत्य है कि इस प्रथा में शिक्षार्थियों को पर्याप्त लाभ नहीं होने पाता। इस स्थिति में सुधार के लिए यह सुझाव दिया जाता है कि शाला की जूनियर व सीनियर कक्षाओं का विभाजन कर लिया जाय और सीनियर कक्षाएँ निकटवर्त्ती किसी केन्द्रीय सीनियर स्कूल में शिक्षा पा सकें। सीनियर बालक भी एक शाला से दूसरी निकटस्थ शाला को जाने में सक्षम हो जाते हैं। दूसरी योजना यह भी हो सकती है कि शाला को दो समय लगाया जाय। एक समय में जूनियर कक्षाएँ और दूसरे समय में सीनियर कक्षाएँ।

एक शिक्षक की एक शाला में, जहाँ एक से अधिक कक्षाओं को पढ़ाना पड़ता है, उनके लिए समय-विभाग-चक्र बनाने में इन सुझावों का ध्यान रखा जाना उपयोगी होगा :—

(१) कक्षा शिक्षण के साथ अन्य कक्षाओं को सामूहिक अथवा व्यक्तिगत कार्य करने को दिया जाय। इस प्रकार का कार्य बड़ी कक्षाओं में अधिक लम्बी

अवधि को तथा छोटी कक्षाओं में छोटे समय को दिया जाय। बड़ी कक्षाओं में यह कार्य ४० मिनिट तक का तथा छोटी कक्षाओं में २० मिनिट का होना चाहिये। यह अवश्य है कि यह कार्य योजनाबद्ध हो और उसकी उचितरूप से जाँच व देख-भाल की जाय।

(२) दो या तीन कक्षाओं को एक विषय के लिए अथवा एक कार्य के लिए सम्मिलित कर लिया जाय। इस योजना में एक विषय के तीन कक्षाओं के प्रकरणों को सम्मिलित करना होगा। सामान्य विज्ञान, सामाजिक अध्ययन और गणित आदि के लिए इस योजना से लाभ उठाया जा सकता है।

(३) शाला के प्रथम वर्ग का जहाँ तक हो सके शिक्षक पृथक् ही किया जाय। इस कक्षा में बालक शाला में नवीन ही होते हैं। भिन्न-भिन्न स्त्रोत और वातावरणों से आते हैं इसलिए उनको शाला के वातावरण में सटाने के लिए व्यक्तिगत देख-भाल की अधिक आवश्यकता है। इस अवस्था में नवीन बालकों को बिना शिक्षक के निरीक्षण और मार्गदर्शन के बिना किसी कार्य में स्वतन्त्र रूप से व्यस्त करना भी कठिन ही है। इसलिए इस कक्षा के शिक्षण की पृथक् ही योजना होनी चाहिये।

(४) कुछ विषय—जैसे नैतिक शिक्षा, शारीरिक शिक्षण, प्रकृति-निरीक्षण, कला, संगीत, स्वास्थ्य, सफाई, प्रार्थना, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि सामूहिक रूप से सब के एक साथ किये जा सकते हैं। बुनियादी शालाओं में वस्त्रकला, कृषि, काष्ठकला आदि उद्योगों में बालक अपनी-अपनी योग्यता तथा स्तरों के अनुकूल एक ही समय में शिक्षक के निरीक्षण और मार्गदर्शन में काम करते रह सकते हैं।

(५) कभ-कभी उच्च कक्षाओं के चतुर बालकों का उपयोग भी कार्य-संचालन में लाभदायक सिद्ध होता है। इस प्रकार से बालक कार्य-निरीक्षण और जाँच में बड़े सहायक होते हैं। इस प्रकार के एक शिक्षक के समय-विभाग-चक्र में इस बात की प्रधानता होगी कि पूरी शाला तथा विभिन्न वर्गों के कार्य को दो विशेष वर्गों में बाँटा जाय। एक वर्ग का जब अध्यापन-कार्य होगा तो दूसरे वर्ग को व्यक्तिगत तथा सामूहिक अभ्यास, अध्यापन अथवा स्वाध्याय में व्यस्त रखने की योजना बनानी होगी।

किसी भी समय-विभाग-चक्र को शिक्षा-क्रम, शिक्षकों की योग्यता तथा संख्या, शाला भवन तथा पाठन-सामग्री और स्कूल की वास्तविक परिस्थिति के

अनुकूल बनाना होगा । आधुनिक मनोविज्ञान तो प्रत्येक बालक को भिन्न मानता है और उसके अनुसार उसके कार्य करने की गति, उसकी क्रिया-शीलता और कार्य-क्षमता में अन्तर मानता है। जब बालक को किसी कार्य के करने में उसकी अबाध गति से कार्य करने दिया जाता है तो वह उस कार्य को पूरा करने में लगातार लगा रहता है जब तक कि उसकी उस कार्य में रुचि होती है और वह थक नहीं जाता। इसलिए कार्य में रुचि को स्थिर रखना और थकान का ध्यान रखना मुख्य बातें हैं। जब तक बालक अपने द्वारा चुनी हुई रुचिपूर्ण क्रिया में लगा रहता है तब तक वह चेतन और क्रियाशील रहता है। किन्तु जब बालक को एक समय-विभाग-चक्र में बाँध दिया जाता है तो समय की घंटी के साथ बालक को अपनी रुचि के तार को तोड़कर एक दूसरे विषय से रुचि जोड़ने में लाचार होना पड़ता है अथवा किसी एक काल-खण्ड में कार्य समाप्त होने के पूर्व ही वह थक जाता है और समय की अवधि समाप्त होने तक उसे इच्छा के विरुद्ध प्रयत्न-शील रहना पडता है। इसलिए प्रोजेक्ट, मान्टेसरी, डाल्टन आदि पद्धतियों में इस प्रकार के समय-विभाग-चक्र का आग्रह नहीं है। यहाँ तो कार्य-योजना और उसकी पूर्त्ति प्रधान है। कार्य-योजना की पूर्त्ति के अन्तर्गत ही शिक्षा-योजना की पूर्त्ति हो जाती है। बुनियादी शिक्षा जो प्रत्यक्ष रूप से क्रियात्मक शिक्षण के सिद्धान्तों पर आधारित है उसमें भी योजनाबद्ध कार्य तथा उस-पर आधारित शिक्षा की योजना पर ही बल दिया जाया चाहिये।

इस प्रकार की डाल्टन आदि योजनाओं में जिनमें समय-विभाग-चक्र उनके कड़े रूप में नहीं रखा जाता है वहाँ शिक्षक वार्षिक, मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक कार्यों को निर्धारित कर देते हैं। बालक अपने समय, शक्ति, रुचि के अनुसार कार्य करते हुए दिये गये कार्य को पूरा करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इसमें बालक स्वयं अपनी आवश्यकतानुसार अपना समय व कार्य विभाजन करते हैं। इसी प्रकार की शिक्षा में स्वतन्त्रता की योजना शिक्षा-विशेषज्ञ जान ड्यूई ने की है जिसमें बालक के क्रमिक विकास, उसका स्वयं का प्रयत्न, उसकी स्वयं की उमंग, उत्साह और स्फूर्त्ति और आत्मानुभूति को बालकेन्द्रित शिक्षालयों में स्थान दिया गया है। इन प्राथमिक शिक्षालयों में प्राय: बालकोचित प्रवृत्तियाँ, जो बालकों की रुचि और आवश्यकताओं के अनुकूल होती हैं, बिना किसी विषय की परिधि में बाँधे हुए अपनी अबाध गति से चलती रहें यह धारणा है।

इस विचार-धारा के कारण इस प्रकार के प्रगतिशील शिक्षालयों में बालकों की रुचियों के केन्द्रों को ही प्रधानता दी गई है, जिसमें उनकी भिन्न-भिन्न रुचिकर प्रवृत्तियों का समावेश किया गया है।

इस योजना का उद्देश्य इस प्रकार भी पूरा किया जा सकता है कि समय-विभाग-चक्र को लचीला बनाया जाय। उसमें कुछ समय इस प्रकार का भी छोड़ दिया जाय कि बालक अपनी रुचि के अनुकूल प्रवृत्ति चयनकर उस समय को उस कार्य में लगा सकें। इस कार्य के लिए विभिन्न प्रकार की रुचिकर प्रवृत्तियों का समावेश एक ही काल-खण्ड में कर दिया जाता है जिससे भिन्न-भिन्न बालक अपनी रुचिकर प्रवृत्ति में समय व्यतीत कर सकें। तात्पर्य यह है कि समय-विभाग-चक्र को पाठन-विषयों पर आधारित न करते हुए क्रियाशीलनों पर आधारित करना होगा। नई तालीम भी उद्योग-केन्द्रित शिक्षा है इसलिए इसी प्रकार के समय-विभाग-चक्र द्वारा इसके उद्देश्यों की भी पूर्त्ति हो सकती है। विद्यार्थियों का उद्योगशालाओं, प्रयोगशालाओं में काम, सामाजिक जीवन की दैनिक प्रवृत्तियाँ, उनका प्राकृतिक व सामाजिक अध्ययन, उनकी रचनात्मक व सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियों की आनुषंगिक क्रियाएँ और उनके क्रिया-शीलन वार्षिक योजना से दैनिक योजना तक स्थान पा सकते हैं और उनकी अनुकूलता के आधार पर समय-विभाग-चक्र का गठन किया जा सकता है।

बुनियादी शाला में एक लचीला समय-विभाजन-चक्र रहता है, क्योंकि सीखने की क्रिया बालकों के स्वयं के अनुभवों पर आधारित रहती है न कि विभिन्न विषयों पर। बुनियानी शाला में अन्य शालाओं की भाँति विभिन्न विषयों का ज्ञान शिक्षक द्वारा नहीं ठूसा जाता है बल्कि बालक स्वयं वास्तविक जीवन की परिस्थितियों द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। इसलिये सीखने की क्रिया क्रियाशील है न कि मृतक। ज्यों-ज्यों बालक उनके सामाजिक व भौतिक वातावरण में प्रस्तुत परिस्थितियों के अनुसार समस्याओं का व्यावहारिक हल खोजते हैं उनको ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये ज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया को अध्यापन-कक्ष, समय-विभाग-चक्र, पाठ्यक्रम, कालखण्ड, आदि की सीमा में नहीं बांधा जा सकता है। बुनियादी शिक्षालय में विद्यार्थियों को उद्योग-कार्य तथा सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए समय मिलना चाहिये। शाला की सफाई, सजावट, पीने के पानी की व्यवस्था, घण्टी बजाना, स्कूल के माल गोदाम की व्यवस्था, अध्यापन

कक्ष और उद्योग-कक्ष व्यवस्था, शाला की दूकान, सहकारी भण्डार, आरोग्य-भवन, पुस्तकालय, वाचनालय, सांस्कृतिक आयोजन आदि अनेक प्रवृत्तियाँ हैं जिनको समय मिलना चाहिये। इस दृष्टि से वर्ष भर, सब शालाओं में सारे देश भर में एक ही प्रकार का समय-विभाग-चक्र नहीं रखा जा सकता है। ग्रामीण व शहरी क्षेत्र में ऋतु, मौसम व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार उनके स्वीकृत अवकाशों में भी भिन्नता रखना होगी।

सुझावों के रूप में निम्नलिखित समय विभाजन की रूप-रेखा प्रस्तावित है :—

१०-३०—१०-४५	सफाई स्वच्छता।
१०-४५—११-००	प्रार्थना व उपस्थिति।
११-००—११-२०	सामाजिक सेवा कार्य (पुस्तकालय, आरोग्य-भवन, सहकारी भंडार, शाला की दूकान आदि)।
११-२०—११-५०	उद्योग-कार्य।
११-५०—१२-२०	समवायी ज्ञान (सामान्य विज्ञान)।
१२-२०—१२-५०	उद्योग-कार्य।
१२-५०—१-२०	समवायी ज्ञान (गणित)।
१-२०—२-००	विश्राम।
२-००—२-३०	उद्योग-कार्य।
२-३०—३-००	समवायी ज्ञान (सामाजिक ज्ञान)।
३-००—३-२०	कला।
३-२०—४-००	भाषा।
४-००—४-१५	सफाई।
४-१५—४-३०	खेल व व्यायाम।

छात्रावासयुक्त शिक्षालयों में पूरे दिन भर की कार्य-योजना होगी। इसी प्रकार सुविधानुसार शाला के समय को प्रातःकाल तथा दोपहर के दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

अनुशासन

आज की शिक्षा बालक-केन्द्रित है। उनमें बालक की प्रधानता है। विद्यालय ज्ञान ठूसने के स्थान नहीं हैं वरन् आचरण के परिष्कार की प्रयोगशालाएँ हैं, जिनमें बालकों का शारीरिक बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों का विकास हो, दृष्टिकोण का विस्तार हो, मस्तिष्क का शिक्षण हो, चरित्र का निर्माण हो, सदाचार के भाव जाग्रत हों और वे अपने राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व को समझें।

अनुशासन के विषय में लोगों की अलग-अगल धारणाएँ हैं जो प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति उसके जीवन के उद्देश्य तथा उसकी राज्य की कल्पनाओं के अनुसार बदलती रहती हैं। भारत में समाजवादी समाज-रचना तथा लोकतन्त्र को समाज-व्यवस्था का तन्त्र स्वीकार किया है जिसमें शोषण और हिंसा के स्थान पर अहिंसा और सहयोग को स्थान दिया गया है। एक ओर शासन और शोषणमुक्त दण्ड निरपेक्ष समाज की भी कल्पना हैं। हमारे लोकतन्त्र के संविधान के मूलाधार समानता, भ्रातृत्व, स्वतन्त्रता और न्याय है। बालकों को इन आदर्शों के निर्वाह के लिए अभ्यासी बनना है। विद्यालय इसी अभ्यास की प्रयोगशालाएँ होनी चाहिये जहाँ बालक इसी प्रकार के लोकतन्त्रात्मक जीवन का व्यावहारिक अभ्यास कर सकें और उनके इस प्रकार के आचरण का अभ्यास उनके स्थायी संस्कार में परिणत हो जाय।

इस दृष्टि से बुनियादी शिक्षालयों में स्वायत्त शासन की व्यवस्था होना अत्यावश्यक है जिसके द्वारा बालकों को लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था का व्यावहारिक अभ्यास मिल सके। यह अवश्य है कि रूढ़िगत शिक्षालयों की अपेक्षा बुनियादी विद्यालयों में बालकों को अधिक स्वतन्त्र वातावरण मिलेगा, जिसमें उनकी चर्चाओं, वाद-विवाद, पारस्परिक विचार-विनिमय, सभाओं और गोष्ठियों में अधिक चहल-पहल होगी। सम्भव है कभी शोर-गुल भी हो, किन्तु उनके सब कार्य सोद्देश्य कार्यों में लगे रहने के कारण उद्देश्य पूर्ण होंगे और

अनुशासनहीनता की समस्याएँ उपस्थित होने के कम ही अवसर होंगे। बुनियादी शिक्षालयों में आत्मानुशासन की भावना का स्वयं ही विकास होता रहता है क्योंकि बालक अपने लक्ष्यपूर्ण सोद्देश्य कार्यों की पूर्त्ति में लगे रहते हैं और उनको उनके सुपुर्द किये गये कार्यों की पूर्त्ति में आनन्द भी आता है। बुनियादी शिक्षा को जीवन की शिक्षा, जीवन द्वारा और जीवन के लिए कहा गया है और जब उसकी रचना उसके इस मौलिक रूप में होती है तब बालक अपने जीवन की सोद्देश्य इकाइयों की पूर्त्ति ही में रत रहते हैं। इसमें बालकों की प्रवृत्तियाँ, स्वाभाविक रुचि तथा उमंग जगाती है और यही उनकी आत्म-प्रेरणा के श्रोत बन जाते हैं। इस प्रकार बाह्य नियंत्रण की कम-से-कम आवश्यकता पड़ती है।

जब बालक सामूहिक रूप से किया योजनाबद्ध निर्माण-कार्य की पूर्त्ति में व्यस्त होते हैं तब प्रत्येक बालक अपने सामूहिक उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक पूरा होने में क्रियात्मक सहयोग देने का ध्यान रखता है। यदि इस भावना में कभी किसी प्रकार की कमी की भी सम्भावना हुई तो उसके साथियों का आग्रह उसको इस कमी करने से बचाता है। इस प्रकार सामूहिक कार्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ सामूहिक आवश्यकता का ध्यान रखना भी आवश्यक हो जाता है और व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की क्रिया और प्रतिक्रिया से सामाजिक गुणों का विकास होता है जिसमें व्यक्ति अपने स्वतन्त्र आचरण के साथ समूह की सभाओं का सम्मान करना सीख जाता है। उदाहरणार्थ प्रत्येक विद्यार्थी को सायंकालीन खेलों में भाग लेना उसका एक कर्त्तव्य है किन्तु जब एक शाला का दल प्रतियोगिता में भाग लेने जाता है तब अपने स्थान पर किसी भी ज्यादा अच्छे खिलाड़ी को स्थान दे देना एक नैतिक बन्धन है और अनुशासन है। इसमें शाला को विजयी बनाने का पवित्र उद्देश्य और उसके लिए त्याग भी है।

यदि शिक्षालय को उसके सच्चे स्वरूप में संगठित किया जाय तो उसमें सामाजिक भावनाओं के विकास की अनेक अलक्ष्य शक्तियाँ होती है जिनमें बालक अपने व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित में लय कर देने में ही अपना आनन्द मनाते हैं। मुझे स्मरण है, एक बार एक शिविर में एक दिन शिविर-निरीक्षण होनेवाला था, सब शिविरार्थी भोजन पर आ बैठे थे; किन्तु एक शिविर-वासी को अनुपस्थित होने पर खोज करने से पता लगा कि वह कुछ शिविर-

वासियों के जूतों पर बैठा हुआ पालिश कर रहा था। उससे पूछे जाने पर पता चला कि आज न जाने कब शिविर-निरीक्षण हो जाता और मेरे दल को इन अस्वच्छ जूतों के कारण, सम्भव है सफलता न मिलती; इसलिए जब तक भोजन परोसा जाय तब तक यह काम मैं करलूं; इस उद्देश्य से यहाँ आगया हूं। सामूहिक भावना की उपासना का कैसा सुन्दर दर्शन है। यह चमत्कार है सामाजिक जीवन का जिसको समस्त शिक्षालयों में उसके वास्तविक रूप में स्थान मिलना चाहिये।

बुनियादी शिक्षा में शिक्षा को उद्योग-केन्द्रित बनाने से बालक शारीरिक श्रम के लिए तो सक्षम बनते ही हैं, साथ में उनको वातावरण की वास्तविक परिस्थितियों का भी प्रत्यक्ष परिचय होता है। वातावरण के अनुकूल बनाना भी शिक्षण का एक उद्देश्य है। बालक उद्योगमयी शिक्षा में प्रकृतिदत्त वस्तुओं को अपने उद्योग से समाजोपयोगी रूप देते हैं। इसमें उनको अपने, प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का प्रत्यक्ष अनुभव मिलता है और अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं को उपलब्ध सामग्री के अनुकूल मोड़ने की आवश्यकता पड़ जाती है। जिससे उनमें अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने की क्षमता आती है। वे यह जानने लगते हैं कि संसार में जीवित और निर्जीव अनेक शतियाँ इस प्रकार की हैं जिनकी प्रतिक्रिया उनके जीवन पर निरन्तर होती रहती है मनुष्य को सुखी रहने के लिए इनसे अनुकूलता प्राप्त करना आवश्यक है। जीवन के इस सत्य की ओर उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है जो उनके जीवन को अधिकाधिक अनुशासन की ओर प्रेरित करती है। इसलिए बुनियादी शिक्षालय का स्वायत शासन अनुशासन का पाठ सिखाने का एक अमोघ साधन है। बालकों का स्वयं का विधान होगा, उनकी छात्र-परिषद् होगी, उनका मंत्रि-मण्डल होगा और उनकी स्वयं प्रेरणा से उनका संचालन होगा। यह अवश्य है कि छोटी अवस्था में बालकों को शिक्षकों के मार्ग-दर्शन की आवश्यकता अवश्य होगी। इसमें बालक अपने अधिकारों को समझेंगे, दूसरों के अधिकारों का सम्मान करेंगे, अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को जागरूक रहेंगे, स्वतन्त्रता से अपनी समस्याओं पर विचार-विनिमय करेंगे और समाज के आत्मीयता की भावना पनपेगी। समाज-संगठन में दृढ़ता आकर भावी नागरिक जीवन में ये आदर्श उनके संस्कारों में स्थान पा सकेंगे जो जनतन्त्र की सफलता के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

शाला के जीवन में स्वस्थ अनुशासन के लिए संगठन और व्यवस्था के नियमों की आवश्यकता है। इसमें व्यक्तिगत अधिकार स्पष्ट हो, दलों का कार्य, उनका कार्य-क्षेत्र उनका उत्तरदायित्व स्पष्ट हो। व्यक्तिगत दुराग्रह किसी पर अनावश्यक प्रभाव न डाल सके जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण भी न हो और प्रत्येक को अपनी योग्यता को व्यक्त करने का अवसर मिल सके। प्रतिस्पर्धा के कारण दलों में अस्वस्थ वातावरण न बन सके इसका विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है। शाला की परम्पराएँ व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन पर अपना एक प्रभाव रखती हैं। कभी-कभी इनको शाला की अलिखित नियमावली का स्थान प्राप्त हो जाता है। इसलिए उत्तम परम्पराएँ पड़ सकें इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये।

एक समय था जबकि अनुशासन का अर्थ डाँट-फटकार द्वारा बालकों को चुपचाप रखकर कक्षा में व्यवस्था बनाये रखना था, जिससे कक्षा में पुस्तकीय ज्ञान दिया जा सके। इसमें बालकों की शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों का ध्यान नहीं रखा गया था। बालक स्वभाव से ही, चंचल और क्रियाशील होते हैं। उनको कक्षा की चहारदीवारी के अन्दर बाँधा जाना स्वभाविक नहीं है। क्रिया द्वारा शिक्षा की योजना ने अनुशासन की कल्पना को भी नया ही रूप दे दिया है। अनुशासन प्रायः दो प्रकार का होता है—बाह्य तथा आन्तरिक। शिक्षण की सफलता तब ही है जब बाह्य नियंत्रण आन्तरिक अनुशासन का रूप लेले। नियम इसी अभ्यास के लिए बनाए जाते हैं, किन्तु अभ्यास के पूर्व वे बाहर से लादे हुए से ही मालूम पड़ते हैं। विचारों के आचार और उनके संस्कार बनते है। जब अभ्यास के पश्चात् आत्मा उनको स्वीकार कर लेती है और मनुष्य सम्मान और स्वेच्छा से उनको अपने हित में समझकर उनके सामने झुकने लगता है तब वही नियम आत्मानुशासन का रूप धारण कर लेते हैं और मनुष्य की स्वतन्त्रता को निखार देते हैं। जिस प्रकार नदी के बहते रहने में उसकी दो गतियाँ हैं—एक उसके दोनों किनारों के बीच और दूसरी बाढ़ के समय अपनी मर्यादा को छोड़कर। यही अनुशासन की स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता का स्वरूप है। नदी अपनी अबाध गति के साथ स्वतन्त्रता से अपने किनारों के बीच बहती रहरी है और दूसरी गति हानिकारक है, उसमें मर्यादा नहीं है, जिसमें अनेक प्रकार की हानियों की सम्भावना है। इसी प्रकार समाज में व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता को रखते

हुए अपने दोनों तरफ के किनारों की यानी अपने और पासवालों की मर्यादा को भी ध्यान में रखने की आवश्यकता होगी। ये किनारे हैं सामाजिक जीवन के नियम और उनका संगठन, जिसकी मर्यादा की रक्षा प्रत्येक व्यक्ति को करना होगी।

मनोविज्ञान में मार्गन्तरीकरण, शोध आदि अनेक योजनाएँ हैं जिनमें मूल प्रवृत्तियों का परिष्कार किया जाकर उनका शिक्षण में उपयोग किया जाता है। अनुशासन के लिए भी सामूहिकता, आत्मगौरव आदि मूल प्रवृत्तियों तथा अनुकरण, सहानुभूति और निर्देश आदि सामान्य प्रवृत्तियों का उपयोग किया जा सकता है। इसके कारण बालकों में परिश्रमशीलता, आज्ञापालन, धैर्य, समय की पाबन्दी आदि अनेक गुणों का विकास होता है। टोली नायक के रूप में काम करने से उनमें आत्मगौरव की भावना के कारण कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को निभाने की प्रवृत्ति बनती है और नेतृत्त्व के गुणों का विकास होता है। शिक्षक केवल अपने दबाव से बालकों में स्थायी अनुशासन नहीं ला सकता है। प्रतिक्रिया यह होती है कि जब यह दबाव बढ़ जाता है तब अधिक वेग से उन दबी हुई शक्तियों का प्रदर्शन होता है। इसलिए आज के शिक्षा-संसार में अधिक-से-अधिक आत्मानुशासन की योजनाओं पर ही बड़ा जोर दिया जाता है।

फ्रावेल बालक की रुचियों पर ही चल देता है और उसका मत है कि बाह्य दबाव और केवल कृत्रिम अधिकारपूर्ण आदेशों से बालक का स्वाभाविक विकास रुद्ध होता है और उसकी आन्तरिक उमंग कुण्ठित होती है जो बालक की क्रियाशीलता का श्रोत है। किन्डर-गार्डन का भी सिद्धान्त है, कि इस दबाव की बालक के जीवन की एकतारता में और उसके नैतिक विकास में बाधा पड़ती है जबकि बालक को केवल भय के कारण शिक्षक की इच्छा-मात्र के सहारे काम करना पड़ता है। इस दृष्टि से बालक के ऊपर बाह्य नियन्त्रण की कल्पना में पर्याप्त परिवर्तन हो रहा है। शालाओं का उद्देश्य और तदनुसार उनकी प्रवृत्तियों को बालकों की रुचियों, प्रवृत्तियों के अनुकूल ढालने का निरन्तर प्रयत्न किया जा रहा है। बालक पर प्रेम और सहानुभूति के द्वारा उसकी मूल प्रवृत्तियों और रुचियों के आश्रय से ही उनपर नियन्त्रण किया जाता है, यदि बालक अपने व्यवहार में गलती भी करता है शिक्षक के दण्ड द्वारा उसके सुधार की कल्पना नही है वरन् बालकों को उसकी गलती से अवगत

कराया जाता है जिससे उसकी आत्मा उसके अनुपराध को स्वीकार करले और उसको आत्मिक पश्चात्ताप हो। यह प्रक्रिया उसमें स्थायी सुधार लाती है। समाज में बैठकर समाज-संचालन के वह स्वयं ही नियम बनाता है और समाज के अनुशासन के साथ वह स्वतः भी अपने को उन नियमों से बंधा हुआ पाता है और उसका सम्मान भी करता है। यह समाज के वैधानिक संगठन द्वारा होता है। प्रकृति के नियम भी हैं, समाज के भी नियम हैं; इसलिए सामाजिक नियमों के अन्तर्गत ही बालकों की स्वतन्त्रता सीमित रहना उचित है। यह नियम बालकों की अपनी दुनिया के उनकी अवस्था और स्तर के अनुकूल होंगे। शिक्षक उनमें एक मार्गदर्शक का कार्य करेगा। जिस प्रकार के समाज की कल्पना है उसकी प्रारम्भिक शिक्षा का श्रीगणेश इस शिशु-जीवन से ही आरंभ हो जायगा।

शिक्षा-जगत् के कुछ शिक्षा-शास्त्री यह मानते हैं कि बालकों के उत्तम चरित्र-निर्माण के लिए एक प्रबल इच्छा-शक्ति की आवश्यकता है। श्री वेल्टन का कथन है कि अनुशासन का उद्देश्य विवेक का प्रशिक्षण है जिसके द्वारा उत्तम इच्छा-शक्ति का निर्माण होता है और नैतिक दृष्टिकोण का विकास होता है। जब तर्क और महत्त्वाकांक्षा में द्वन्द्व होता है तब इच्छा-शक्ति कार्य करती है और विवेक को विजयी बनाने में सहायता पहुँचाती है। इसलिए चरित्र की नैतिकता को एक रहस्यमयी शक्ति माना गया है। इस दृष्टि से नैतिक और सामाजिक अनुशासन के लिए उत्तम इच्छा-शक्ति का निर्माण एक प्रभावशाली साधन माना गया है। शिक्षक का मार्गदर्शन इस दिशा में अवश्य एक महत्त्व का है। शिक्षक का आचरण और व्यक्तित्व और उसका स्वयं का आदर्श एक महत्त्वशाली साधन है।

शिक्षा-शास्त्री ड्युई के शिक्षा-दर्शन ने अनुशासन की समस्या को एक नया रूप दे दिया है। उसका कथन है कि व्यक्ति का मानसिक और नैतिक विकास स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् नहीं है और शाला में उनकी प्रवृत्तियों के क्षेत्र में पृथक्-पृथक् नहीं हैं। इसी प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक रुचियों में पृथकत्व की भावना को भी वह स्थान नहीं देते हैं। इसलिए उसके सिद्धान्त के अनुसार शाला के सामाजिक जीवन के मूल्यों को बालक के व्यक्तिगत विकास के लिए समुचित मान्यता दी गई है। बालक के विकास की एक उत्तम सामा-

जिक वातावरण के निर्माण के बिना कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उनके अनुसार बालक की प्रत्येक मानसिक, नैतिक, सामाजिक, शारीरिक अनुभूति बालक के लिए एक समाज के सदस्य के नाते उसके व्यक्तिगत विकास के लिए एक महत्त्व रखती है। वास्तव में उनका यह विश्वास है कि किसी भी व्यक्ति के मस्तिष्क का कार्य सामाजिक प्रेरणा और सामाजिक उद्देश्यों के पोषण के बिना होना ही नहीं है। इसलिए उनके मतानुसार अनुशासन के लिए शैक्षणिक प्रक्रिया और सामग्री ठीक वैसी ही होनी चाहिए जैसी वास्तविक सामाजिक जीवन में। शाला का एक सामाजिक रूप हो जिसमें बालकों को अधिक-से-अधिक सामाजिक परिस्थितियाँ उपलब्ध हों जिनमें वे सामाजिक उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सहकारिता से सामूहिक व व्यक्तिगत प्रयत्न करें। पाठशाला एक ज्ञान को भरने का स्थान-मात्र नहीं है और न चरित्र के नियन्त्रण का स्थान है वरन् उसका उद्देश्य एक ऐसे वातावरण को प्रस्तुत करता है जहाँ बालक स्वयं अपनी इच्छा और प्रेरणा से काम करें, कार्य स्वयं उनको प्रेरणा प्रदान करे और सामूहिक सहयोग प्रवृत्तियों में उनका चरित्र भी निखरे। इस प्रकार के सामाजिक कार्यों में बालक को स्वयं यह चयन करने का अवसर प्राप्त होता हैं कि उसका कौन-सा कार्य समाज के अनुकूल है और कौन-सा समाज के प्रतिकूल, उनकी कौन-सी क्रिया समाज को सहायक है कौन-सी बाधक। इसके अनुसार अपने व्यवहार और अपने चरित्र को बदलने में उसकी स्वयं की यह अनुभूति काम करती है। अनुशासन की इस सम्भावना में शिक्षक का कार्य न तो एक आरक्षक सिपाही का है और न एक सेना के कप्तान का है वरन् एक इञ्जीनियर का है। जैसे एक चतुर इञ्जीनियर उपलब्ध सामग्री में से चयन कर एक सुन्दर भवन का निर्माण करता है, ठीक उसी प्रकार शिक्षक को बालक के वातावरण और उसमें उपलब्ध साधनों द्वारा तथा शाला के सामाजिक जीवन के अवसरों के अवसरों के उपयोग द्वारा बालक की अनुभूति को चेतना दिलाना चाहिए जिससे बालक की प्रवृत्तियाँ उचित दिशा में प्रवाहित हों। इसलिए बालक का सामाजिक और भौतिक वातावरण अनुशासन के लिए बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। शाला के अनुशासन का मूल उद्देश्य तो बालक की उचित आदतों, भावनाओं और धारणाओं तथा आदर्शों का निर्माण है जिसके द्वारा वे अपना, अपने साथियों का और समाज का विकास कर सकें। इसका अभ्यास एक सामाजिक जीवन के माध्यम से ही

हो सकता है जो नैतिक आदर्शों को लेकर सहकारिता के सिद्धान्तों पर संचालित किया जा सकता है।

अनुशासन में अवस्था का अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए। छोटी अवस्थावालों तथा बड़ी अवस्थावालों से एक-जैसे अनुशासन की आशा नहीं की सकती। बड़े बालक छोटे बालकों की प्रारम्भिक अनुशासन की अवस्था को पार कर चुके होते हैं इसलिए बड़े विद्यार्थियों के हाथ में उनके स्वयं का शासन व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों रूप से देना चाहिए। किन्तु वह इस तरह से हो कि विद्यार्थियों को हस्तक्षेप का पता न चल सके। उन्हे यह अनुभव न हो पाये कि वे नियमों के बन्धन में रह रहे हैं। वास्तविक अनुशासन जब आ जाता है तो नियमों के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

नीचे कुछ ऐसे सिद्धान्त दिए जाते हैं जिनपर अनुशासन निर्भर करता है। ये डाक्टर ब्रे की पुस्तक 'स्कूल की व्यवस्था' में से उद्धृत किए गए हैं:—

(१) स्कूल का वातावरण एवं स्कूल का नैमित्तिक काम ऐसा होना चाहिए जिसमें बालक सुख का अनुभव करें। मुक्त वायु-संचार, आरामदेह बैठकें, बालकों की रुचि के अनुसार कार्यक्रम होने से वे सुखी रहते हैं।

(२) नैतिकता को प्रोत्साहित किया जाय और अनैतिकता से घृणा की जाय। सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों से प्रसन्नता की भावनाओं और नैतिक कल्पनाओं को बलवान् बनाया जावे ताकि बालकों के हृदयों में दुर्गुणों के प्रति अरुचि उत्पन्न हो।

(३) बौद्धिक तथा काल्पनिक गुणों के विकास की शिक्षा भी मिलती रहनी चाहिए। ६ वर्ष की अवस्था के पश्चात् बालक की कल्पनाशीलता तिरोहित होने लग जाती है। यदि समय रहते इस गुण का उपयोग किया जाए तो जीवन में रंगीनी पैदा की जा सकती है।

(४) पाठशाला का कानून प्राकृतिक नियमों पर आधारित होना चाहिए। यह कानून बालकों की प्रवृत्तियों को ठीक-ठीक सोच-समझकर बनाये गये हों।

(५) नियम यद्यपि सामूहिक और सामाजिक जीवन की दृष्टि से बनाये जाते हैं तो भी उन्हें कार्यान्वित करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए

कि वे बालक के स्वभाव के प्रतिकूल सिद्ध न हों। कभी-कभी छोटे-से-छोटा उलाहना भी बच्चों को काफी सुधार सकता है। इसके विपरीत कड़ी-से-कड़ी चेतावनी भी कई बालकों में किसी भी प्रकार का सुधार नहीं कर पाती। इसलिए शिक्षा-क्षेत्र में शिक्षक की सहानुभूति ही अनुशासन का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

अनुशासन की स्थापना में निम्नलिखित बातें भी सहायक होंगी :—

(१) बच्चों का कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे वे अधिक-से-अधिक प्रसन्नता प्राप्त कर सकें।

(२) स्कूल और घर के बीच ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध जोड़ा जाय जिससे पालकों के सम्बन्ध भी पाठशाला से जुड़ जायें। इसके लिए बालकों की उन्नति तथा प्रगति की रिपोर्ट पालकों के पास भेजते रहना, समय पाकर उनसे मिलते रहना व बारी-बारी से बालकों के घरेलू जीवन का अध्ययन करने उनके घर जाते रहना, अच्छे साधन हैं।

(३) पाठशाला में समय-समय पर पालक-दिवस आदि की योजना करना, जिसमें बालकों की कृतियों तथा अपने भावों का प्रदर्शन चाहते हैं। उनकी इस कामना की पूर्त्ति इस प्रकार के उत्सवों के आयोजनों द्वारा हो जाती है, जिसमें बालकों की साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों का प्रदर्शन तथा प्रिय वस्तुओं का संग्रह होता है और बालकों की प्रगति के मानचित्र आदि रक्षित रहते हैं। बालकों को इतना आनन्द चीजों को प्राप्त करने में नहीं होता जितना कि वे अपनी कृतियों का प्रदर्शन होते देखकर प्राप्त करते हैं।

(४) जो काम बालकों को घर पर करने को दिया जाय वह समय, योग्यता तथा रुचि को देखकर दिया जाय, जिससे वह उन्हें भारस्वरूप न जान पड़े।

(५) समाज के उदारचेता व्यक्तियों तथा विद्यार्थी-सहायक सभा द्वारा गरीब और असमर्थ छात्रों की सहायता का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

(६) अपने पुस्तकालय के बिना स्कूल वैसा ही है जैसे बिना दवा के दवाखाना और बिना भोजन-सामग्री के भोजनालय। बालकों की व्यक्तिगत रुचि का अध्ययन कर उन्हें तदनुसार पुस्तकें पढ़ने के लिए देने से बहुत कुछ सुधार हो सकता है। यदि बालकों की श्रेणी अथवा योग्यता के अनुसार पुस्तकों की सूची बनाकर लगा दी जाय तो और भी अच्छा हो।

(७) बालचर तथा बालवीरों के दल की स्थापना भी अनुशासन का एक बहुत बड़ा साधन है। यदि साधन पर्याप्त हो तो पूरे स्कूल का संचालन इसी पद्धति पर किया जा सकता है। इसमें बालक स्वस्थ वातावरण में स्वस्थ प्रवृत्तियों द्वारा अपने चरित्र का निर्माण करते हैं। वे अपने शरीर को बलवान, चित्त को चैतन्य तथा चरित्र को पवित्र करने के साथ-साथ सर्वांगीण उन्नति कर समाज के स्वस्थ, सुखी तथा सहायक अंग बन सकते हैं। दल-संचालन की पद्धति द्वारा उनमें जनतन्त्रीय शासन की योग्यता भी उत्पन्न की जा सकती है। वन-विद्या सम्बन्धी ज्ञानोपार्जन द्वारा प्रकृति से प्रेम तथा ज्ञान की विविध शाखाओं से साहचर्य उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जूनियर रेड-क्रॉस आदि का संगठन भी किया जा सकता है।

(८) स्कूल में सम्मान-सूची रखना भी एक अच्छा साधन है। इस सूची में उत्तम योग्यता प्राप्त बालकों के नामों की प्रविष्टि की जाती है।

(९) कक्षा-प्रमुख के पद के लिए तथा अन्य कार्यों के लिए बालकों को बारी-बारी से चुनकर जिम्मेदारी देना भी उनके कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्व की व्यावहारिक शिक्षा का उत्तम साधन है।

(१०) प्रत्येक स्कूल का एक सिद्धान्त होना चाहिये और वह ऐसे स्थान पर लिखकर टांग दिया जाना चाहिये कि बालक स्कूल में आते-जाते समय कम-से-कम एक बार उसे अवश्य देख लें।

(११) दस्तकारी ऐसे कामों की योजना की जाय जिससे बालकों में संगठित रूप से काम करने की योग्यता बढ़े और वे सामाजिक जीवन के महत्त्व को समझें।

(१२) पाठशाला का मुख पत्र हस्तलिखित अथवा छपा हुआ, जैसा हो सके, निकाला जाये। इसके द्वारा शिक्षक बालकों तथा पालकों तक अपने विचार पहुँचा सकते हैं। साथ ही बालकों को भी अपने भाव तथा विचारों को व्यक्त करने का अच्छा अवसर मिलता है।

(१३) पाठशाला के बालकों का सामूहिक प्रवास—यह किसी ऐतिहासिक, प्राकृतिक अथवा अन्य किसी सुन्दर स्थान पर जाने से हो सकता है। इसमें पहले पालकों की स्वीकृति ले लेना उचित है। प्रवास के पूर्व बालकों को

भी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सूचनाएँ लिखित रूप में दी जानी चाहिये :—

(१) प्रवास का उद्देश्य, (२) रवानगी तथा वापसी का समय, (३) साथ में ले जाने का सामान, (४) देखने के स्थानों की सूची तथा शिविर का दैनिक कार्यक्रम, (५) साथियों की सूची, (६) व्यक्तिगत हिसाब-किताब, (७) खाली जगह जिसमें बालक अपनी रुचि के अनुसार निरीक्षण के आधार पर नोट्स लिखेंगे।

प्रवासों से निम्नलिखि लाभ होंगे :—

(१) बालकों, पालकों तथा शिक्षकों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित होंगे, (२) बालकों के निकट सम्पर्क में आकर शिक्षकों को उनकी प्रवृत्तियों का अध्ययन करने का अवसर मिलेगा, (३) बालकों को भूगोल, इतिहास आदि का प्रत्यक्ष पाठ पढ़ाया जा सकेगा, तथा (४) उन्हें सामाजिक जीवन का व्यावहारिक अनुभव होगा।

शिक्षक

"शिक्षक में चाहिये माता का प्रेम, किसान का उद्योग, वैज्ञानिक की सूझ-बूझ, कलाकार की अनुभूति, तपस्वी की लगन तथा विद्यार्थियों की जिज्ञासा।"

बुनियादी शिक्षा का ध्येय एक नवीन समाज की रचना है जो हिंसा और शोषण से मुक्त हो। शोषणमुक्त दण्ड निरपेक्ष समाज की रचना इसका उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रखकर कार्य करना होगा। राष्ट्रीय जीवन में यह महान् क्रान्ति है। इसलिए इस योजना को शिक्षा में हिंसक क्रान्ति के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। उसमें शैक्षणिक गुण के अतिरिक्त नवीन समाज का सृजन करने की क्षमता है। यही समाजवादी ढंग की समाज-व्यवस्था का साधन है। इस नवीन राष्ट्रीय जीवन का कर्णधार होगा शिक्षक जो शिक्षा-रूपी नाव का नाविक बनकर देश के भावी नागरिकों को जिस दिशा में चाहे मोड़ सकता है। बालकों के जीवन की सफलताएँ शिक्षक के ही उचित मार्ग-दर्शन पर निर्भर हैं। यदि शिक्षक योग्य, परिश्रमी, उचित मनोवृत्तिवाला न होगा तो शिक्षा की योजना सफल होना कठिन है। वह बालक के भाग्य, जीवन और मस्तिष्क का निर्माणकर्त्ता है। वह अपनी उचित शिक्षा द्वारा नई मानवता का निर्माण करेगा जिसके द्वारा नवीन समाज का दर्शन सम्भव होगा। इस दृष्टि से राष्ट्रोत्थान की इस महान् योजना में शिक्षक का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शिक्षण एक आध्यात्मिक क्रिया है जिसमें मस्तिष्क का मस्तिष्क से सम्पर्क स्थापित होता है। एक अच्छे शिक्षक के आदर्शों का प्रभाव बालकों के चरित्र-गठन पर पड़ता है। इस दृष्टि से भवनों, सामान-सज्जा, पाठ्यक्रम आदि से अधिक उचित प्रकार के शिक्षकों के चयन की आवश्यकता है। एक अच्छे शिक्षक का प्रभाव शताब्दियों तक चलता रहता है और वह कभी-कभी

राष्ट्रीयता की समुचित सीमाओं को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण का भी कार्य करता है। शिक्षक के जीवन-दर्शन का प्रभाव उसके विद्यार्थियों और समाज पर पड़े बिना नहीं रहता है और अज्ञात रूप से अनुकरण, सहानुभूति और निर्देश के रूप में विद्यार्थी उसके प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते हैं। आज की दुनिया द्रुत गति से बदल रही है। इसलिए इस बदलती दुनिया की गतिविधि को भली प्रकार समझकर नये मस्तिष्कों का मार्गदर्शन उचित दिशा में करना शिक्षक का ही काम है। यही सत्य नहीं है कि शिक्षक का प्रभाव किसी पाठ्य विषय की पाठन वस्तु तक ही सीमित हो वरन् शिक्षक की मनोवृत्ति और उसका व्यक्तित्व उसके विद्यार्थियों को प्रत्येक दिशा में प्रेरक होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षक अपने शिक्षण में न केवल विषय मात्र की ही जानकारी देने तक सीमित रहे वरन् उसके जीवन-मूल्यों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करे, जिससे शिक्षा जीवन से सम्बन्धित होकर उसमें सजीवता आ सके।

इस दृष्टि से शिक्षक का व्यक्तित्व शिक्षण-प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। शिक्षक के व्यक्तित्व के अन्तर्गत किन-किन बातों का समावेश किया जाय इसकी एक संपूर्ण सूची देना तो कठिन है, किन्तु कुछ वांच्छनीय गुणों के सुझाव दिए जा सकते हैं जो एक अच्छे शिक्षक के व्यक्तित्व में होना आवश्यक हैं। शिक्षक का अच्छा स्वास्थ्य, उचित वेशभूषा, शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता, मधुर व सरल स्वभाव, सहानुभूतिपूर्ण अच्छी आवाज, सुव्यवहार, सच्चरित्रता, ईमानदारी, हँसमुख विनोदी प्रकृति, आशावादिता, उत्साह, धैर्य, लगन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अध्ययनशीलता आदि व्यक्ति के गुणों में समाविष्ट किये जा सकते हैं। प्रो० वागले, कीथ, बोसिंग आदि भी इस मत से सहमत हैं। प्रो० रेमान्टर तो शिक्षक को अनेक सद्गुणों का भण्डार ही मानता है।

शिक्षा की सफलता, जितनी शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षा-सिद्धान्त तथा वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति पर अवलम्बित है उससे अधिक वह योग्य शिक्षक पर निर्भर करती है। हमारे देश में यह परम्परा रही है कि अध्यापन-कार्य को आर्थिक लाभ का साधन अथवा व्यापार नहीं समझा गया है। यही कारण था कि हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति में अध्यापकों को ऊँचा स्थान प्राप्त था। अध्यापन-कार्य एक उच्च कोटि की समाज-सेवा है जिसके आधार पर राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति का उत्थान होता है। इस न्यायी और तपस्वी

ऋषि-जीवन से उपकृत और प्रभावित होकर चक्रवर्त्ती राजाओं के मुकुट भी गुरु के समादर में झुक जाया करते थे। आज समाज में अव्यवस्था हो जाने से न तो अध्यापकों की वह तपस्वी वृत्ति रही है और न जनता में शिक्षकों का सम्मान हो रहा है, जिसके फलस्वरूप बालकों को शिक्षा के साथ शिक्षकों का आशीर्वाद प्राप्त नहीं हो पाता है और शिक्षा असफल हो रही है। इस दुर्व्यवस्था के निवारण के लिए शिक्षकों को भगीरथ प्रयत्न करना है। सबसे पहले उनको ही अपने कार्य में सुधार करना है एवं अपने चरित्र का निर्माण कर अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझना है जिससे समाज में न्याय की स्थापना हो। ऐसा समाज निर्मित होने पर ही अध्यापक का सम्मान हो सकेगा। शिक्षकों को भी एक बात याद रखने की है कि आदर और सम्मान माँगा नहीं जाता है वह तो उसके व्यक्तित्व, आदर्श और आचरणों के कारण उसको स्वयं प्राप्त होता है। शिक्षक को उसका अधिकारी बनने का प्रयत्न करना चाहिये।

अब शिक्षक की, उन विशेषताओं का विवेचन करना है जो एक कुशल शिक्षक में अपेक्षित हैं।

शिक्षक का स्वास्थ्य.—उसके व्यक्तित्व की एक प्रधान आवश्यकता है जिस-पर उसकी न्याय योग्यताएँ भी निर्भर हैं। क्योंकि एक स्वस्थ मस्तिष्क स्वस्थ शरीर में निवास करता है । इसलिए शिक्षक को स्वास्थ्य, स्वच्छता और सफाई के सब नियमों के पालन में सावधान रहना होगा। उचित आहार-विहार, उचित व्यायाम-विश्राम, स्वस्थ, स्वच्छ, हवादार निवास स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। शारीरिक शक्ति और क्षमता से मनुष्य में उमंगें, उत्साह आशा, चेतना, धैर्य आदि गुणों का सांचा होता है। शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्वास्थ्य का भी ध्यान रखना आवश्यक है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। इसलिए जीवन को साधा और सरल तथा विचारों को उच्च रखने के साथ शिक्षक में प्रसन्नता, सन्तोष और आशावादिता के गुणों की आवश्यकता है। नई तालीम में श्रम को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिये जाने के कारण यह आवश्यक ही हो गया है कि शिक्षकों में शारीरिक श्रम करने की भी पर्याप्त क्षमता हो तब ही तो वह बालकों के साथ कन्धे-से-कन्धा लगाकर काम करके उनको प्रेरणा दे सकेंगे। उसकी शारीरिक क्षमता और मानसिक प्रयत्नों का जहाँ तक प्रश्न है उसमें किसान के उद्योग की कल्पना की गई है, जो निरन्तर अथक परिश्रम करता ही रहता है और प्रत्येक बाधा का धैर्य से सामना करता है।

पानी की व्यवस्था

सामूहिक-कार्य सेवा-कार्य आत्मीयता की भावना जाग्रत करता है।

बागवानी का कार्य

यह कृषि-कार्य की प्रारम्भिक शिक्षा है। कृषि हमारा राष्ट्रोद्योग है।
"श्रम में गौरव" का पाठ सिखाती है।

शिक्षक में पाठन के विषयों का समुचित ज्ञान होगा और शिक्षा-सिद्धान्त, मनोविज्ञान आदि का भी अध्ययन होगा। वह अपने ज्ञान को एक विद्यार्थी की भाँति सदैव सजीव रखने को निरन्तर अध्ययनशील रहेगा और प्रत्येक विचारधारा को अपने प्रत्यक्ष प्रयोगों की कसौटी पर कसने का प्रयत्न करेगा। शिक्षण एक कला भी है और उसका एक विज्ञान भी है। शिक्षा-विज्ञान के विकास के साथ शिक्षण-कला में विज्ञान के नियम भी लागू होने लगे हैं। इसलिए शिक्षक को एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता है जिससे प्रयोग अन्य निर्जीव वस्तुओं पर न होकर विकासमान चैतन्य बालक पर होंगे। उसको यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि बालक मनुष्य का लघु रूप नहीं है, वह स्वयं अपना एक व्यक्तित्व रखता है जिसका विकास किया जाना है। वह तो स्वयं आध्यात्मिक शक्ति की एक चिनगारी है। शिक्षा बालक की सुषुप्त-शक्तियों को जगाने की एक प्रक्रिया है। बालक स्वयं परिपूर्ण ज्ञान का भण्डार है। शिक्षक का कार्य इस ज्ञान को चेतना देने का है। इसलिए शिक्षा में शिक्षक कुछ देता है और बालक लेता है यह कल्पना सही नहीं है। शिक्षक तो बालक के ज्ञान को जगाता है। यदि आदान-प्रदान की बात होती तो शिक्षक में कमी आकर शिक्षार्थी में ज्ञान की वृद्धि होनी चाहिए थी। किन्तु शिक्षण एक ऐसी आध्यात्मिक क्रिया है जिसमें जो शिक्षा देता है उसका भी ज्ञान उत्तरोत्तर चमचमाता है और शिष्य में भी ज्ञान की वृद्धि होती है। इस आध्यात्मिक विज्ञान को समझकर शिक्षक को चाहिए कि वह बालक की मानसिक, शारीरिक व भावात्मक क्रियाओं और मनोवृत्तियों को समझे। ज्ञान-सम्पादन के नियमों, पद्धतियों व सिद्धान्तों के वैज्ञानिक तथ्य को समझे। शाला को ज्ञान ठूसने मात्र का स्थान न समझकर ज्ञान के आदान-प्रदान की प्रयोगशाला माने। एक विद्यार्थी की भांति सदैव ज्ञान प्राप्ति का जिज्ञासु बना रहे।

शिक्षक का हृदय एक कलाकार की भाँति सुरुचिपूर्ण और सुसंकृत होना चाहिए। जैसे कलाकार अपनी सफलता—निर्जीव कृति को भी देखकर मुग्ध हो जाता है; उसी भाँति शिक्षकरूपी कलाकार का कार्य तो और भी महान् है जो सजीव कृति को और भी अधिक परिष्कृत करने का प्रयत्न करता है। यह कार्य कठिन भी है; क्योंकि निर्जीव वस्तुएँ किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करतीं और बालक तो एक सजीव, सचेतन, क्रियाशील प्राणी है। वह मिट्टी का लौंदामात्र नहीं है। विद्यार्थी शिक्षक की एक कलाकृति होगी,

जिसको उसके जीवन की समस्त कलाओं से सुसज्जित करना होगा, क्योंकि वह कला निर्जीव है जो जीवन के लिए न हो। अस्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को कलापूर्ण बनाना शिक्षक कलाकार का काम होगा। कलाकार जैसे आन्तरिक सौन्दर्य को बाह्य रूप देता है वैसे ही शिक्षक भी आत्मा के समस्त गुणों का विकास कर कला की सौन्दर्योपासना करता है।

शिक्षक की दूसरी विशेषता उसका आदर्श चरित्र है। बालक स्वभाव के अनुकरणशील होते हैं। इसी गुण के द्वारा उनका बहुत-सा शिक्षण होता रहता है। अतएव शिक्षक को अपने चरित्र और दिनचर्या से ऐसा आदर्श उपस्थित करना चाहिए कि उसकी देखा-देखी शिक्षार्थियों का जीवन उसी सांचे में ढलता चला जाय। जैसे माता-पिता के गुण परम्परागत प्रवृत्तियों के आधार पर बालक में पाए जाते हैं वैसे ही एक सफल शिक्षक के गुण उसके विद्यार्थी में प्रतिबिम्बित होते हैं। बालक में वीर-पूजा की भावना होती है। अतएव एक आदर्श-चरित्र शिक्षक के प्रति उनमें स्वाभाविक आदर की भावना का उदय होता है। उसकी दूसरी विशेषता उसके ज्ञान का भण्डार है। सफल शिक्षक के ज्ञान का भण्डार सुविस्तीर्ण होना चाहिए, जिससे वह बालकों द्वारा उपस्थित समस्याओं का समाधान कर सके। बुनियादी शिक्षा की पद्धति की यह एक विशेषता है कि एक का सम्बन्ध दूसरे विषयों से होता ही है और बालक अपनी कुतूहल-वृत्ति के वशीभूत होकर स्वतः ऐसी समस्याएँ प्रस्तुत करते रहते हैं कि उन्हें एक ही विषय के संदर्भ में विविध विषयों का ज्ञान दिया जा सके। इन समस्याओं का सुलझाना ही उसकी ज्ञान-वृद्धि का साधन है। अतएव शिक्षक के ज्ञान-भण्डार के विस्तृत होने की अन्य किसी पद्धति में इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि बुनियादी शिक्षा में। समवाय और समन्वय की पद्धति, जो कि बुनियादी शिक्षा-योजना का प्राण है, तो इसके बिना सफल ही नहीं हो सकती। इस प्रकार की योग्यता-प्राप्ति के लिये शिक्षक को सदैव अध्ययन-शील रहना चाहिए और सदा अपने विद्यार्थीभाव को जागृत रखना चाहिए। यही उचित भी है, क्योंकि मनुष्य जन्म-काल से मृत्यु-पर्यंत सीखता ही रहता है। उसका जीवन ही एक पुस्तक है और जीवन के कार्य उस पुस्तक के पृष्ठ हैं।

शिक्षक में विद्यार्थियों के प्रति सहानुभूति तथा सहनशीलता होनी चाहिए। जैसे माता-पिता विद्यार्थी के भौतिक शरीर को जन्म देते हैं, उसी प्रकार

शिक्षक उसके मानवी गुणों को जन्म देकर उसे मनुष्य-समाज के योग्य बनाता है। अतएव माता-पिता की भाँति अध्यापक को भी विद्यार्थी से नैसर्गिक स्नेह होना चाहिए। जिस शिक्षक के हृदय में बालकों के प्रति प्रेम नहीं है वह कभी सफल शिक्षक नहीं बन सकता। उसकी सहनशीलता भी माता-पिता की तरह होनी चाहिए। जैसे माता-पिता सन्तान के दुर्गुणों से दुखी होकर उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और शान्त होकर सोचते रहते हैं कि इन दुर्गुणों से बालक की निवृत्ति कैसे हो सकती है, उसी प्रकार शिक्षक भी सहनशीलता, धैर्य और सहृदयता के साथ विद्यार्थियों की कमी को देखता है और उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। जैसे किसान भूमि में बीज डालकर हवा, पानी, प्रकाश आदि की समय-समय पर व्यवस्था करता तथा पौधों को काटता-छांटता रहता है उसी तरह शिक्षक भी धैर्य के साथ बालक को फूलता-फलता देखने की बाट देखता रहता है।

शिक्षक की प्रसन्न-मुद्रा भी उसके आवश्यक गुणों में से एक है। यह विद्यार्थियों के आकर्षण का कारण होती है। प्रसन्नचित्त शिक्षक को बालक घेरे ही रहते हैं। जैसे खिले हुए फूल को देखकर प्रसन्नता होती है, वैसे ही प्रसन्नचित्त शिक्षक को देखकर विद्यार्थी खिल उठते हैं और फिर कक्षा में एक अच्छे खिले हुए उपवन की शोभा का आनन्द आता है, जिससे अध्ययन तथा अध्यापन का कार्य सरस, भाररहित एवं सुग्राह्य हो जाता है। इस गुण से हीन व्यक्ति भी सफल शिक्षक नहीं हो सकते। नियन्त्रण की दृष्टि से भी यह आवश्यक नहीं है कि शिक्षक सदैव ही क्रुद्ध तथा गम्भीर मुद्रा बनाए रहे। अनुशासन में भी प्रेम का बड़ा स्थान है। अनुशासन के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी शिक्षक की देख-रेख में काम करते रहें। कार्यहीन बालकों के विषय में ही अनुशासन की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। बालक स्वभाव से ही क्रियाशील होते हैं। यदि उन्हें काम मिल गया तो यह गुण उनकी शिक्षा तथा विकास का कारण होगा, अन्यथा यह उनकी विध्वंसकारी प्रवृत्तियों में प्रदर्शित होगा।

मधुर भाषण तथा आकर्षक वर्णन-शैली भी अध्यापक के गुण हैं। शिक्षकों को यह भी नहीं भूलना चाहिये कि वे आवश्यकता से अधिक जोर से बोलकर विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर एक ऐसा प्रहार करते हैं जिससे उनका मस्तिष्क जल्द थक जाता है और कभी-कभी उनकी भावना को भी बड़ी ठेस पहुँचती है, और उनकी मनोवृत्ति पर स्थायी दुष्प्रभाव पड़ता है।

मधुर भाषरण के साथ धीरे बोलना इसलिए भी आवश्यक है कि विद्यार्थी शिक्षक द्वारा प्रतिपादित विषय को समझने के लिए धीरे बोलने के कारण उसकी ओर ध्यान लगाये रहते हैं और थकते भी नहीं है।

शिक्षक का सब से बड़ा गुरण उसका सुसंस्कृत होना है। अध्यापक शिक्षा द्वारा समाज का निर्माण करता है, उसे सांस्कृतिक विचारों तथा भावनाओं से अनुप्राणित करता है। अतएव उसका स्वयं का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होना चाहिये। उसको समाज तथा समाज की संस्कृति से पूरा सम्बन्ध रखना चाहिये। अध्यापक ही समाज तथा शिक्षालय को जोड़नेवाली कड़ी है तथा शिक्षालय समाज के सांस्कृतिक कार्यों का क्षेत्र है। अतः नवीन शिक्षा के दृष्टिकोण से अध्यापक की प्रतिभा सर्वतोमुखी होना चाहिये। वह स्कूल को केन्द्र बनाकर पूरी जनता का शिक्षरण करेगा और उसके द्वारा शिक्षित बालकों के संसर्ग से निरक्षर प्रौढ़ भी साक्षर बनाये जा सकेंगे। इस प्रकार पालक, बालक तथा शिक्षकों के संगठित प्रयत्न से नवीन समाज का निर्माण होगा।

बुनियादी शिक्षक आज के शिक्षकों की भाँति बालकों को केवल आज्ञाएँ ही देने का काम नहीं करेगा, बल्कि स्वयं सदा उनके साथ मार्गदर्शक तथा नेता की भाँति रहेगा, और बालकों को कोई काम करने की सीधी आज्ञा न देते हुए कहेगा कि "चलो हम सब मिलकर यह कार्य करें"। इसके लिए उसे अपने में कम-से-कम परावलम्बन एवं अधिक-से-अधिक स्वावलम्बन की आदत डालनी पड़ेगी।

नई तालीम का शिक्षक पूरी तरह से श्रमिक जीवन में श्रद्धा और उद्योग द्वारा शिक्षा देने की पद्धति में विश्वास रखेगा। उद्योग में वह शिक्षक अपनी प्रतिभा द्वारा नित्य प्रति नयापन लाने का प्रयत्न करेगा और निरन्तर यह सोचता रहेगा कि वह उद्योग द्वारा किस तरह अधिक-से-अधिक ज्ञान देकर दस्तकारी की शिक्षा का वाहन तथा साधन बना सकता है। वह सदा बालकों की योग्यता का सूक्ष्म निरीक्षरण करता रहेगा और इस तरह प्रत्येक परिस्थिति में कार्य करने की क्षमता प्राप्त करेगा।

नई तालीम के शिक्षक के सामने सदैव यह लक्ष्य रहेगा कि भारत एक ग्रामों का देश है जिसमें ९० प्रतिशत ग्राम हैं और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का यथार्थ दर्शन ग्रामों में ही होता है। ग्राम महासागर हैं और शहर एक बूंद की भाँति हैं। शिक्षकों को अपने दृष्टिकोण तथा शिक्षा की रूप-रेखा

का निर्माण इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर करना चाहिये। शिक्षकों के हृदय में गाँवों के प्रति प्रेम की भावना उत्पन्न होने से ही वे ग्रामीण जीवन की समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने और सुलझाने में सफल हो सकेंगे। बापू का कथन था कि मैं भारतवर्ष में गाँवों को सबल व सुदृढ़ देखना चाहता हूँ। आज-कल तो गाँव शहरों के लिए जीते हैं और उनपर निर्भर करते हैं यह अनुचित है। शहर गाँवों पर निर्भर करने लगें अर्थात् गाँवों से लाभ उठाने के बदले स्वयं उनको लाभ पहुँचाने लगें तभी हमारा आशय पूरा होकर समाज की अर्थनीति को नैतिकता के आधार पर प्रतिष्ठित किया जा सकेगा। इस पवित्र उद्देश्य की सिद्धि के लिए शहरी बालकों के उद्योग का देहाती बालकों के साथ सीधा सम्बन्ध होना चाहिये। इस प्रकार ग्रामों की ओर शिक्षकों की भावना सजग होकर ग्रामों की आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षा की रूप-रेखा का निर्माण होगा।

शिक्षकों को यह भी ध्यान रखना होगा कि ग्रामों का देश होने के साथ-साथ भारत एक निर्धन देश भी है। अतएव वे शिक्षण-पद्धतियाँ यहाँ के लिए उपयुक्त नहीं हो सकतीं, जो व्ययसाध्य होने के कारण धनाढ्य देशों में प्रचलित हैं। हमें तो अपने देश में ऐसी एक पद्धति प्रचलित करना है जिसके द्वारा शिक्षा को अनिवार्य किया जाकर अधिकांश अशिक्षित जनता को शिक्षित बनाया जा सके और निरक्षरता का निवारण हो। आज की दोषपूर्ण शिक्षा-पद्धति में केवल थोड़े धनाढ्य ही शिक्षा का लाभ उठा सकते हैं; किन्तु जिस समाज की रचना समता तथा न्याय के आधार पर होती है उसमें शिक्षा सब के लिए जल, वायु एवं प्रकाश आदि प्रकृत सुविधाओं की भाँति ही सुलभ होनी चाहिये।

नई तालीम के शिक्षक का जीवन की सरलता में विश्वास होगा और वह सदा अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का प्रयत्न करेगा। जिस मनुष्य की आत्मा जितनी अधिक उन्नत होती है उसे उतने ही कम बाह्य उपकरणों की आवश्यकता है—नई तालीम का शिक्षक इस बात को कभी नहीं भूलता।

नई तालीम का शिक्षक एक सदाचारी, कर्मठ, समाजसेवी, स्वदेश-प्रेम तथा स्वार्थत्याग की भावना से पूर्ण, त्यागी, तपस्वी, साधक, आशापूर्ण, उत्साही, चिन्तनशील और प्रतिभाशाली व्यक्ति होगा, जिसमें किसान का उद्योग, वैज्ञानिक की सूझ-बूझ, माता का हृदय और कलाकार-जैसी अनुभूति

होगी। तभी वह बालकों में ब्रह्मा की भाँति सदगुणों का संचार कर, विष्णु की भाँति उनका पोषण कर तथा दुर्गुणों का भगवान् शंकर की भाँति संहार करके साक्षात् परब्रह्म की उपाधि का अधिकारी होगा।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवेनमः॥

शिक्षकों का चुनाव तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा

शिक्षा के उद्देश्य के साथ शिक्षकों की योग्यता का घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि: शिक्षा का काम योग्य शिक्षकों पर निर्भर है। शिक्षकों के अनुरूप ही हमारे शिक्षार्थी भी होंगे। बुनियादी शिक्षा सामाजिक क्रान्ति का वाहन है और शिक्षक इस सामाजिक एवं शिक्षा क्रान्ति का अग्रदूत है। अतएव इस महान् कार्य के पथ-प्रदर्शन के लिए उनमें यथेष्ट क्षमता और योग्यता होना चाहिये। शिक्षा के आदर्शों के अनुकूल उनका जीवन, शिक्षा दर्शन, चरित्र और आचरण हो। श्रम के प्रति श्रद्धा और निष्ठा हो। इस शिक्षा का ध्येय व्यक्ति के समतोल और सुसमंजसित विकास द्वारा समाज का नव-निर्माण है जिसकी नींव सत्य, अहिंसा, न्याय और पारस्परिक प्रेम और सहयोग पर न हो, वर्ग विषमता हो और प्रत्येक को स्वतन्त्रता से जीवन यापन करने का अवसर हो। इस आदर्श की पूर्ति के लिए शिक्षा उत्पादक श्रम के द्वारा दी जानी चाहिये तथा स्वावलम्बी भी होनी चाहिये। अत: शिक्षा के इन आदर्शों की पूर्ति हेतु ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता है जिनका समुचित शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास हुआ हो जो श्रम में गौरव और सेवा में आनन्द का अनुभव करें। श्रम निष्ठा के साथ उनकी वैज्ञानिक मनोवृत्ति हो तब ही तो वे बालकों को कार्य-केन्द्रित शिक्षा में उसका क्यों और कैसे समझाकर उसको ज्ञान-प्राप्ति का साधन बना सकेंगे। इस प्रकार उनका जीवन सरल, साधा और बाह्याडंबर रहित सत्य का उपासक बनेगा। ऐसे ही शिक्षकों पर शिक्षा की इस नई योजना के प्रचार एवं प्रसार का दायित्व रह सकेगा। अच्छा हो यदि शिक्षकों के इस चुनाव में उनकी योग्यता की मौखिक तथा लिखित जाँच के साथ एक शिविर द्वारा उनकी उचित मनोवृत्ति की भी जांच की भी जा सके। इस प्रकार आयोजित शिविर जीवन की प्रसुप्त भावनाओं एवं प्रच्छन्न विशेषताओं का परिचय दिला सकेंगे और उनकी बात-चीत का ढंग, वेशभूषा, आचार-विचार, अभिव्यक्ति की कुशलता, बुद्धि

की कुशाग्रता, प्रत्युत्पन्नमति, चिंतन स्वातन्त्र्य आदि व्यक्तित्व की विशेषताओं का परचय मिल सकेगा। इस प्रकार के उचित शिक्षकों का चुनाव कर फिर उनके समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिये जिससे उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो।

प्रशिक्षण-केन्द्रों का जीवन भी इन्हीं आदर्शों के अनुरूप हो। उनके प्रशिक्षण के चार प्रमुख अंग होगा चाहिये—सामाजिक जीवन की योग्यता, स्वाध्याय, अध्यापन-कुशलता तथा स्वावलम्बन का अभ्यास। सामाजिक जीवन के अभ्यास के अन्तर्गत उनकी व्यक्तिगत जीवन-यापन-कला तथा सामूदायिक जीवन के संचालन-संगठन में उनका सहयोग, सद्भावना, सदव्यवहार हैं। स्वाध्याय के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम की तैयारी के साथ भाषण, व्याख्यान, चर्चा, सत्संग, पुस्तकाध्ययन तथा निरीक्षित स्वाध्याय की व्यवस्था होना आवश्यक है जिससे उनके ज्ञान-भण्डार में अभिवृद्धि हो और दृष्टिकोण का का विस्तार हो। अध्यापन-कला में मनोविज्ञान, शिक्षा-सिद्धान्त, पाठशाला-प्रबन्ध, शिक्षा का इतिहास आदि का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिये। अध्यापन का प्रत्यक्ष कार्य, प्रदर्शन पाठों का अवलोकन, समालोचना तथा निरीक्षण आदि द्वारा किया जाना चाहिये। विभिन्न क्रियाशीलनों द्वारा किस प्रकार ज्ञान दिया जा सकता है इन विशेष अवसरों पर ध्यान रखने की आवश्यकता होगी। प्रशिक्षण की अवधि में शिक्षण का व्यावहारिक अभ्यास एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। नई तालीम के लिए शिक्षकों के लिये एक तीस चालीस मिमिट के काल-खण्ड में पाठ देने के नाटक को करना अपर्याप्त है। प्रत्येक शिक्षक को वर्ष में कम-से-कम दो बार १५ दिन की अवधि मिलनी चाहिये जिसमें वह अपने पाठ की योजना इस प्रकार बना सके कि किसी सोद्देश्य कार्य की इकाई को भी पूरा कर सके और उसपर आधारित ज्ञान भी दे सके। अभ्यास-पाठ की योजना बनाने में कार्य की सोद्देश्य इकाइयाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। बच्चों की अवस्था, स्थिति और आवश्यकता के अनुकूल संयोजनों का चुनाव किया जा सकता है। इसको पाठशाला तक ही सीमित न रखा जाकर घर, समाज व प्रकृति के खुले क्षेत्र तक फैला देना चाहिये। इस योजना द्वारा ही समग्र विकास की संभावना है। शिक्षक की यह सब पूर्व तैयारी पाठ-टीका द्वारा लक्षित हो जाना चाहिये। चौथा स्तम्भ है स्वावलम्बन। इसमें मूलोद्योगों का अभ्यास तथा दैनिक जीवन की आवश्यता-

पूर्त्ति में आत्म निर्भरता से सम्बन्ध है। यथासम्भव स्वयं अपना कार्य करने का अभ्यास हो और मूलोद्योगों के अभ्यास से बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्त्ति की दिशा में अग्रसर हो सके और जीवन में उसका अभ्यास करते रहने की निष्ठा उत्पन्न हो।

इस सब के लिए प्रशिक्षण-केन्द्र का जीवन एक स्वयंप्रेरित, स्वाश्रयी, एवं स्वयंसंचालित समाज के रूप में आयोजित होना चाहिये, जहाँ जीवन-यापन-कला के प्रत्यक्ष व्यावहारिक अभ्यास के साथ एक शैक्षणिक वातावरण का निर्माण हो जहाँ उनके सांस्कृतिक विकास की समस्त सुविधाएँ प्राप्त हों।

शिक्षकों को समाज की समस्याओं का अधिक-से-अधिक अध्ययन कराया जाना चाहिये। उन्हें अपने सांस्कृतिक जीवन के मूलस्त्रोत ग्रामों के जीवन का पूरा परिचय और उससे प्रेम एवं सहानुभूति तथा ग्राम सुधार एवं ग्रामोत्थान के कार्यों में क्रियात्मक सहयोग देने की योग्यता होनी चाहिये।

इस नई योजना को कार्यान्वित करने में उतावलापन किया गया तो उसके रूप के विकृत होजाने की सम्भावना है। इस दृष्टि से आरम्भ में शिक्षकों की तैयारी के लिए पर्याप्त समय दिया जाना उचित है। शिक्षकों की अपूर्ण तैयारी से लोगों में नई तालीम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होने का भय रहेगा। यह शिक्षकों का उत्तरदायित्व है कि वे अपनी सफल कार्य-पद्धति से पालकों, बालकों और अधिकारियों में इस योजना के प्रति सम्मान और और विश्वास पैदा करें। शिक्षण-केन्द्रों की भी जिम्मेवारी इसमें कम नहीं है। नित्य के काम ही नये शिक्षकों की प्रगति और योग्यता के मापदण्ड हैं, इस लिए यह नितान्त आवश्यक है कि शिक्षकों के कार्य का समुचित रिकार्ड रखा जाय और उससे उनकी प्रगति का सही-सही मूल्यांकन किया जाय।

बुनिादी पाठशालाओं द्वारा अंगीकृत मूलोद्योगों में भिन्नता होने के कारण भी यह आवश्यक है कि वे इस नवीन पद्धति का, ठीक-ठीक अध्ययन करलें, शिक्षा में उद्योग के स्थान को समझलें और भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान देने के लिए मूलोद्योग का उपयोग करने की व्यावहारिक और शास्त्रीय योग्यता प्राप्त करलें। उन्हें विद्यार्थियों के जीवन, उनकी सहज प्रवृत्ति, अभिरुचि, अवस्थानुसार विकास का क्रम, तथा उनकी भौतिक और सामाजिक आवश्यकताओं का यथार्थ अनुभव हो। समाज और पाठशाला के बीच वे घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता रखते हों। उन्हें बालकों से सहानुभूति और प्रेम हो।

पाठशाला में घर जैसा वातावरण पैदा करके उसे आकर्षक बना सकें। शिक्षक को इन सब योग्यताओं को प्राप्त करने के लिए पाठ्यक्रम के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी अध्ययन करना होगा और उनमें पर्याप्त कुशलता प्राप्त करनी होगी। शिक्षक के लिए सब विषयों का कुछ और कुछ विषयों का सब कुछ मालूम होना चाहिये। समवाय और सह सम्बन्ध की पद्धति में तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता है।

बुनियादी शिक्षा, शिक्षा के क्षेत्र में, एक अहिंसा पूर्ण क्रान्ति है। शिक्षण-केन्द्र इस क्रान्ति टकसालें हैं जिनके द्वारा नवीन दृष्टिकोणवाले कर्मठ, कर्त्तव्य-परायण और कर्मनिष्ठ शिक्षक गढ़े जायेंगे जिन्हें श्रमिक जीवन से प्रेम होगा, जिनके जीवन में बुद्धि और श्रम का सुमेल होगा, और श्रम के प्रति श्रद्धा और सम्मान होगा जो समाज के अनावश्यक भेद-भाव को नष्ट करके परस्पर प्रेम और सहयोग की भावनाएँ जाग्रत करेगा।

शिक्षण-केन्द्र के पुस्तकालय में पुस्तकों की संख्या प्रचुर होनी चाहिये। जहाँ एक ओर बालकों के पास पुस्तकों का होना अनिवार्य और अनावश्यक नहीं समझा गया है वहाँ दूसरी ओर पुस्तकालय के समृद्ध होने की सिफारिश की गई है। बालकों की रुचि और उत्सुकता जाग्रत हो जाने पर उसकी पूर्त्ति के साधन शिक्षक और पुस्तकें ही होती हैं, जो बुनियादी स्कूल के छात्रों के, विश्वसनीय मित्र की भाँति, सदा साथ रहते हैं।

शिक्षकों को आनन्द-विधायक और सांस्कृतिक कार्यों के अवसर निरन्तर मिलते ही रहने चाहिये। सामाजिक, धार्मिक, एवं राजनीतिक उत्सव, संगीत, कला और साहित्य ये सब विकास के प्रमुख साधन हैं। इनके द्वारा इनसे सम्बन्धित अनेक बौद्धिक विषयों के ज्ञान के साथ-साथ आयोजनों की रूपरेखा बनाने, व्यवस्था करने और संचालन करने की व्यावहारिक योग्यता भी प्राप्त होती है।

पाठशाला के संग्रहालय की उचित व्यवस्था और संगठन भी कार्यक्रम का एक अंग है। समय-समय पर शिक्षकों के कार्यों की प्रदर्शनी भी शिक्षा का एक साधन है। शैक्षणिक यात्राएँ भी शिक्षकों की योग्यता और दृष्टिकोण के विस्तार में सहायक होती है।

शिक्षण-केन्द्र का दैनिक कार्यक्रम व्यस्त और सुगठित होना चाहिये जिसमें आलस्य को गुंजायश न हो। कार्यों का समुचित विवरण हो। उसमें

परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जाना चाहिये। इसके लिए केन्द्र-संचालकों को बड़ी सावधानी, दूरदर्शिता और तत्परता से काम लेने की आवश्यकता है।

ट्रेनिंग एक साधन है। ट्रेनिंग स्कूल इस साधन में यथार्थ योग देनेवाले होने चाहिये। शिक्षा-साधना जीवन के आदि से अन्त तक की क्रिया है। ट्रेनिंग स्कूल अल्पकाल में शिक्षण की सम्पूर्णता का दावा नहीं कर सकते; किन्तु यह आवश्यक है कि वे साधनों को साधना के एक ऐसे मार्ग की ओर उन्मुख कर सकते हैं जिसमें आगे बढ़ते-बढ़ते वे स्वयं की उन्नति के साथ समाज की उन्नति करते हुए लोक-कल्याण के महान् कार्य में योग दे सकते हैं। पाठ-शालाएँ विद्या मन्दिर हैं और शिक्षक उनके साधक पुजारी हैं। इन साधकों को अपनी साधना की सफलता के लिए उत्तम मठों और उन्हीं के अनुरूप मठाधीशों की आवश्यकता है। जब शिक्षकों की शिक्षा-दीक्षा इन भावनाओं को लेकर होगी तब राष्ट्र के नव-निर्माण की योजना के सफल होने की सम्भावना है।

अध्यापन-विद्यापीठ का आश्रम-जीवन

"आश्रम वह है जहाँ श्रम का आवास, सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा, वैज्ञानिक दृष्टि, स्वाध्याय तथा सेवा की वृत्ति हो।"

भारत में बुनियादी शिक्षा का मूल केन्द्र सेवाग्राम है। इस मातृ संस्था की प्रेरणा और दीक्षा ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों का मार्गदर्शन किया है। प्रायः सभी शिक्षण-केन्द्र इसी के प्रकाश से आलोकित हैं। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के नई तालीम के भवन का दैनिक कार्यक्रम हमारे लिए आदर्श है।

यह प्रधान केन्द्र सेवाग्राम की पावन तपोभूमि में स्थित है जो विश्ववन्द्य बापू की तपस्या की गौरव-गाथाओं से यशोमण्डित है। इसमें आश्रम के स्थायी विद्यार्थियों और अध्यापकों तथा भारत के भिन्न-भिन्न कोनों से आनेवाले शिक्षार्थियों को मिलाकर लगभग २५० व्यक्ति निवास करते हैं। यहाँ की झाँकी अन्तर्प्रान्तीय और आंशिक रूप में अन्तर्राष्ट्रीय भी है। शिक्षा-संसार के तपे हुए तपस्वी और अनुभवी विद्वानों का समागम स्वयं ही शिक्षाप्रद होता है। यहाँ के संचालकों का तो कहना ही क्या है—पूजनीय आर्यनायकमजी, जिनको आश्रमवासी बाबाजी कहकर सम्बोधित करते हैं, व स्नेहमयी गुरुपत्नी श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम, जिनको वे माँ कहकर पुकारते हैं—पौर्वात्य व पाश्चात्य शिक्षा के धुरन्धर पण्डित हैं और शिक्षा-क्षेत्र तथा अनेक रचनात्मक कार्य-क्षेत्रों में वर्षों से बापू की तपस्या की धूनि में लकड़ी डालते रहे हैं। ऐसे कर्मठ तपस्वी ऋषियों पर इस गुरुकुल के शिक्षण-संचालन का भार है जो प्रातःकाल रात्रि-पर्यंत प्रत्येक कार्यक्रम में बोलती हुई पुस्तक की भाँति सदैव साथ रहते हैं।

आश्रम की रचना बापू की कच्ची कुटी के चारों ओर की गई है। यत्र-तत्र फैले हुए बालकों व बड़े भाई-बहनों के छात्रावास, औद्योगिक विभाग, गौशाला, दुग्धशाला, कार्यालय, पुस्तकालय, संग्रहालय, शिक्षा-भवन और प्रार्थना-भवन आदि हैं। बीच-बीच में लहलहाते हुए खेत, हरे-भरे बगीचे और

मुस्कुराती हुई वाटिकाओं से युक्त लगभग २०० बीघे का यह भूखण्ड अपने अन्न, वस्त्र, निवास, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से एक समुज्जवल चित्र उपस्थित करता है।

देश के भिन्न-भिन्न कोनों से आए हुए, भिन्न-भिन्न अवस्था एवं योग्यतावाले भिन्नधर्मावलम्बी, भिन्न भाषा-भाषी भाई-बहन एक साथ रहकर एक परिवार के अंग बने हुए भिन्नता में एकता स्थापित करके ईश्वराराधना तथा मानवता की उपासना करते हैं। इनमें जाति-पाँति, वर्ण, वर्ग, धर्म, रंग अथवा देश सम्बन्धी पक्षपात नहीं है। प्रत्येक अपनी योग्यता एवं शक्ति के अनुसार काम करता है। समाज-अधिक-से-अधिक स्वावलम्बन और कम-से-कम परावलम्बन सिद्धान्तों को मानता है, यही कारण है कि यहाँ की व्यवस्था में पृथक् वैतनिक सेवक नहीं रखे जाते और जीवन-सम्बन्धी समस्त कार्य समाज के सदस्यों में ही बटे हुए हैं।

कार्य-संचालन जनतन्त्र प्रणाली द्वारा होता है। प्रतिवर्ष आनेवाले शिक्षार्थी अपने सामाजिक विधान का निर्माण करते हैं। मन्त्रि-मण्डल का चुनाव प्रति-मास होता है। यह मण्डल सफाई, स्वास्थ्य, भोजन, शिक्षा, खेती, अर्थ, गृह-उद्योग और संस्कृति विभाग के संचालन द्वारा संपूर्ण व्यवस्था करता है व नित्यप्रति होनेवाली ग्रामसभा में कार्यों का लेखा प्रस्तुत करता है। यह सभा शिक्षा का ही एक साधन है जिसमें नागरिक-शास्त्र, समाज-शास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा जनतन्त्र की उच्च शिक्षा के तत्त्वों की मीमांसा एवं विवेचना द्वारा जीवन सम्बन्धी अनेक विषयों पर चर्चा करने का अवसर प्राप्त होता है। इससे व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि और जीवन की समस्याओं के सुलझाने की योग्यता बढती है। विभाग के भिन्न-भिन्न कार्यों का बंटवारा तत्सम्गन्धी व्यवस्थापकों द्वारा प्रति सप्ताह होता है। ध्यान इस बात का रखा जाता है कि कोई साथी बेकाम न रहे और बारी-बारी से प्रत्येक को प्रत्येक काम का अनुभव हो जाये।

ब्राह्ममुहूर्त्त में प्रातःकाल ४ बजे की घण्टी बजते ही दिनचर्या आरम्भ होती है और आश्रमवासी शौचादि से निवृत्त होते दिखाई देने लगते हैं। एक टोली कलेवा बनाने को भोजनशाला में जाती है। कलेवे में नमकीन या मीठा दलिया अथवा उबले हुए चने और एक प्याला मट्ठा मिलता है। एक टोली पानी भरती है, एक पसने को जाती है तो दूसरी भाजी काटने को जाती है व तीसरी

प्रार्थना-भवन में चटाइयाँ बिछाती है। आश्रम में बस चटाइयाँ ही भोजनालयों में, शिक्षालय में व सभा में समान रूप से ऊँच-नीच के भेदभाव को छोड़कर सबके बैठने के काम आती हैं। ५।। बजे सब प्रार्थना-भवन में एकत्र हो जाते हैं हैं और चारों ओर शान्ति का साम्राज्य छा जाता है। अरुणोदय की लालिमा से रंजित आसमान की ओर मुख किए तथा नेत्र बन्द किए सब परमपिता परमात्मा की मूक प्रार्थना में लीन हो जाते हैं। इस शान्ति के पश्चात् उपनिषद् पाठ से प्रार्थना आरम्भ होती है और फिर अनेक धर्मों की प्रार्थनाओं का पाठ किया जाता है। प्रार्थना के पश्चात् इसी स्थान पर कलेवा दिया जाता है।

कलेवा के बाद आधा घण्टा सफाई का कार्य होता है। छात्रावास, शिक्षालय, प्रार्थना-भवन, भोजनालय, कुआँ, नालियाँ, बर्त्तन तथा शौचादि-गृह सबकी सफाई की जाती है। मल-मूत्र विसर्जन के लिए चलते-फिरते पहियेदार शौचगृह हैं जो खुदी हुई नालियों पर इधर-उधर हटाये जा सकते हैं। गत दिवस के मल को घास-पत्ती व कूड़े से ढककर आगे नालियाँ खोद दी जाती हैं। इस प्रकार चार मास में पूरे खेत को बहुमूल्य खाद्य-सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है जो राष्ट्रीय समृद्धि की वृद्धि में सहायक होती है। कूड़ा-करकट, घास-फूंस, पत्तियाँ गोबर आदि हमारी इस सम्पत्ति के भण्डार को बढ़ाते ही रहते हैं जिसपर वनस्पति जगत् ही नहीं स्वयं हमारा जीवन भी निर्भर है।

इसके पश्चात् खेती या बगीचे सम्बन्धित कार्यक्रम आरम्भ होता है जिसकी अवधि प्रायः १।। घण्टा होती है। आवश्यकतानुसार यह अवधि सुबह या शाम या दोनों समय या लगातार एक ही समय पाँच घण्टे तक बढ़ा दी जाती है। खेती के कार्य में आचार्य मण्डल का अटूट ज्ञान के भण्डार की तरह सदा साथ रहता है और प्रत्येक खेत व बगीचे की क्यारी एक बड़े-से-बड़े शिक्षा-सिद्धान्त शिक्षण का भवन बन जाती है। बीच-बीच में श्रम के परिहार के लिए सुमधुर स्वर लहरी में सूर, तुलसी, कबीर आदि सन्तों की भावपूर्ण वाणी का तथा ग्रामगीतों का गायन होता रहता है।

खेती से लौटकर स्नानादि से निवृत्त होकर सब शिक्षा-भवन में एकत्र होते हैं। आरम्भ में मन्त्रि-मंडल गत दिवस के कार्यों की संक्षिप्त चर्चा करता है व आगामी सूचनाएँ देता है और समाज द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देता है। यह समाज-शास्त्र और जनतन्त्र की व्यावहारिक शिक्षा का अच्छा समय होता है। इसके बाद बुनियादी तालीम के सिद्धान्त, शिक्षा-पद्धति, मनोविज्ञान,

समवाय पद्धति, पाठशाला-संगठन, बापू का तत्त्वज्ञान, समाज-शास्त्र आदि गम्भीर विषयों का विवेचन तथा उनपर प्रवचन होता है। विद्वान् आचार्यों द्वारा जीवन-साधना की उच्च तत्त्वों का विवेचन दिनभर के श्रम को भुलाकर ज्ञानानन्द सागर में मग्न कर देता है। यह है आश्रम का जीवन।

मध्याह्न में आश्रमवासी अपने-अपने भोजन के पात्रों के साथ भोजनशाला की ओर अग्रसर होते हैं और थोड़ी ही देर में भोजन-स्थल पर अपनी-अपनी थालियों में चावल आदि धान्य लिए साफ करते दृष्टि आते हैं। यहाँ पर एक टोली भोजन बनाने में पहले से ही संलग्न थी जो अपना कार्य करके निवृत्त हो चुकी है। भोजन परोसने के बर्त्तनों में रखा जाकर बनाने के बर्त्तन साफ करनेवालों की टोली के सुपुर्द कर दिए गए हैं। एक टोली शाम के लिए पानी भरती है, दूसरी भाजी काटती है। भोजन में ज्वार की रोटियाँ हाथ का कुटा हुआ चावल, दाल और शाक होता है, साथ में एक चम्मच यहाँ का निकाला हुआ तेल और अन्त में एक प्याला मट्ठा होता है। इस प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया है कि साधारण भोजन भी वैज्ञानिक रूप से बनाए जाने व सन्तुलित किए जाने पर उचित परिमाण में ताप देकर स्वास्थ्यप्रद हो सकता है। सामाजिक जीवन में यदि उच्च वर्ग के लोग अपने जीवन स्तर को कुछ उतार दें और निम्नवर्गवालों का स्तर उठाने का प्रयत्न किया जाय तो विषमता की भावना नष्ट होकर समाज में सच्ची समता स्थापित हो सकती है। भोजन के पश्चात् सब अपने-अपने बर्त्तन साफ करते हैं व सम्बन्धित टोलियाँ थोड़े ही समय में सम्पूर्ण स्थल को निर्मल बना देती हैं।

भोजन के पश्चात् एक घण्टे विश्राम का समय होता है। इसके पश्चात् की घण्टी बजते ही दिनचर्या का उत्तरार्द्ध आरम्भ होता है। १।। बजे से १ घण्टे की सामूहिक कताई आरम्भ होती है, जिसको सूत्रयज्ञ भी कहते हैं और जिसे स्वावलम्बन एवं समाजसेवा द्वारा ईश्वरोपासना का अंग मानते हैं। हस्तकौशल इसके पश्चात् का कार्यक्रम है। पूरा समाज अपने-अपने विभागों में विभक्त हो जाता है। कताई वर्ग में कच्ची रुई से कातने तक की क्रिया की जाती है। इसी प्रकार बुनाई-विभाग अपने कार्य में व्यस्त रहता है। अवसर पाकर भाषा, गणित, समाज-शास्त्र आदि का ज्ञान समवाय पद्धति द्वारा दिया जाता है। दूसरे विभागों का कार्य भी इसी भाँति संचालित होता रहता है।

४ से ५।। तक का समय खेती, बागवानी, पुस्तकालय का उपयोग,

विशेष विषयों का अध्ययन, सांस्कृतिक कार्यक्रमों की तैयारी और कभी-कभी मनोरंजन कार्यक्रमों के आयोजनों में व्यतीत होता है। इसके पश्चात् दोपहर की भाँति भोजन की तैयारी का आरम्भ होता है। भोजन में चावल के स्थान पर खिचड़ी व मट्ठे के स्थान पर दूध मिलता है।

७॥ बजे प्राय: खुले मैदान में प्रार्थना का आयोजन होता है। प्रात:काल की भाँति सब धर्मों की प्रार्थना होती है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों से भजनों का मधुर गायन और नामकीर्त्तन इस समय की प्रार्थना की विशेषता है। वास्तव में इस समय का अमोघ शान्तिमय वातावरण एकाग्रता एवं तन्मयता प्रदानकर आध्यात्मिक चिन्तन की ओर प्रवृत्त करता है।

रात्रि को ८ से १० बजे तक व्यक्तिगत अभ्यास और अध्ययन का समय है। इस समय शिक्षार्थी अपनी-अपनी नैमित्तिक डायरियाँ भी लिखते हैं जो मनोविज्ञानवेत्ता आचार्यों द्वारा जांची जाती है व उनसे सम्बन्धित विचारों पर चर्चा और शंका समाधान का अवसर दिया जाता है।

यहाँ के उत्सवों, त्योहारों व सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का वर्णन भी पठनीय है। इन आयोजनों में पूर्ण सरलता एवं भावात्मकता का अनुभव होता है। इन पर्वों पर बाह्याडम्बर में धन व्यय नहीं किया जाता है। यहाँ का सिद्धान्त है कि वह आयोजन ही क्या जिसमें हमने राष्ट्रीय सम्पत्ति में कुछ-न-कुछ वृद्धि न की हो। अत: आयोजनों में सेरों सूत कातकर कपड़ा बनाना आदि अनेक निर्माण-कार्यों व सेवा-कार्यों का समावेश होता है। सांस्कृतिक कार्यक्रम भी अपने ही ढंग के अनूठे होते हैं। त्योहारों के प्रदर्शनों की योजना प्राचीन संगीत के अनुरूप की जाती है। ग्राम-गीत, ग्राम-नृत्य, नाटक तथा प्रहसन भी इसी कार्यक्रम के अंग रहते हैं। विभिन्न प्रान्तों की संस्कृति का परिचय कराने के लिए भी समय दिया जाता है जिसमें प्रान्तीय जीवन प्रदर्शनी, प्रदर्शन, प्रवचन आदि कार्यक्रमों के द्वारा प्रान्तों का परिचयात्मक चित्र उपस्थित किया जाता है। इस पद्धति में किसी शिक्षा-शास्त्री का मतभेद होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार गौणरूप से किया गया ऐतिहासिक वं भौगोलिक शिक्षण सैकड़ों पृष्ठों की पुस्तकों से भी कहीं अधिक उपयोगी ज्ञान दे देता है। क्या अब भी आपको समवायी शिक्षण की सफलता में सन्देह है ?

इस महाविद्यालय द्वारा यह व्यावहारिक पाठ पढ़ाया जाता है कि जीवन के आदि से अन्त तक मनुष्य शिक्षार्थी ही है और उसके जीवन का प्रत्येक कार्य शिक्षा का साधन है। इसलिए बुनियादी शिक्षा को जीवन की शिक्षा और जीवन द्वारा शिक्षा कहा गया है। सफल संचालक शिक्षा-केन्द्रों का संगठन इसी मूल सिद्धान्त के आधार पर करते हैं।

प्रधानाध्यापक

किसी भी संस्था की सफलता उसके कुशल संचालन पर निर्भर है । इस दृष्टि से संस्था के प्रधान का स्थान एक विशेष महत्त्व रखता है । शाला-व्यवस्था में प्राय: यह कहा जाता है कि जैसा प्रधान होगा वैसी ही संस्था होगी। प्रधान के आचरण, गुण तथा उसके आदर्श पाठशाला की प्रवृत्तियों में प्रतिबिम्बित होते हैं। वह शाला का प्रधान केवल पदासीन होने मात्र के नाते ही नहीं है, वरन् सामान्य शिक्षक में वांछनीय गुणों के अतिरिक्त उसमें विशेष गुणों की आवश्यकता है जिसके आधार पर उसे वास्तविक रूप से उस शाला का प्रधान समझा जाय। बुनियादी शाला के शिक्षक के अपेक्षणीय गुणों का विवेचन पृथक् रूप से किया ही जा चुका है। यहाँ केवल प्रधानाध्यापक के उन गुणों का ही विवेचन किया जायगा जिन विशेषताओं के कारण वह शाला का संचालक, अध्यापकों में प्रधान तथा उनका नेता है।

शिक्षालय के प्रधान को संस्था के कार्यों तथा प्रवृत्तियों का केन्द्र माना गया है। संस्था में उसका स्थान वही है जो मनुष्य के शरीर में हृदय का, घड़ी में संचालक कमानी का, जहाज में कप्तान का तथा नाव में नाविक का, जो कठिन-से-कठिन अवसर पर भी धैर्य से काम लेकर अपनी बुद्धि और कुशलता से संचालन और मार्गदर्शन कर सके। उसका व्यक्तित्व आकर्षक हो। उसकी योग्यता और अनुभव की छाप पड़ सके। उसके आदर्श, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को निभाने की वृत्ति से उसके साथी और सम्पर्क में आनेवाले उससे प्रेरणा ले सकें। वह अपने इन गुणों के कारण समाज का श्रद्धापात्र बन सके जिससे समाज में बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति के कार्यों में समाज हृदय से उसे अपना नेता मान सके।

प्रधानाध्यापक में एक उत्तम शिक्षक के समस्त गुण तो चाहिए ही; जिससे वह समय-समय पर अपने सहयोगियों का उचित मार्गदर्शन कर सके। इसके अतिरिक्त उसमें अन्य विशेष गुणों की आवश्यकता है। उसको एक आदर्श चरित्रवान् व्यक्ति होना आवश्यक है जिसके आदर्शों का उसके आचरण में दर्शन हो।

उसे अपने व्यक्तित्व के अन्तर्गत आनेवाले समस्त गुणों—स्वास्थ्य, स्वच्छता, उचित वेशभूषा, व्यवहार, सभ्यता, सहानुभूति, सहयोग, हास्य और विनोद, परिश्रमशीलता, चतुरता, उमंग तथा उत्साह, न्यायप्रियता, धैर्यशीलता, लगन, आत्मानुशासन आदि गुणों की साधना करनी होगी जिससे इन गुणों को उसके आचरण में आकर उसके संस्कारों में ज्ञान मिल सके।

प्रधानाध्यापक एक संचालक, नेता, व्यवस्थापक, संयोजक, शासक, मार्गदर्शक, निरीक्षक, अधीक्षक, सहयोगी, आदर्श दर्शन-शास्त्री, शिक्षा-शास्त्री, सुधारक और मित्र होता है, जिसका कार्य समाज को एक सुनिश्चित दिशा में ले जाने में अपना महत्त्वपूर्ण तथा विशाल होता है। उसको संस्था की समस्त प्रवृत्तियों में भाग लेनेवाला होने के कारण सर्वव्यापी विशेषण से सम्बोधित किया गया है। स्वयं के आदर्शों और आचरण के कारण एक प्रेरणादायक शक्ति माना गया है। उसके आदेशपूर्ण स्वरों में भी विनय की झंकार निकलती है। वह नम्र होता है किन्तु क्रियाहीन नहीं; वरन् एक क्रियाशील व्यक्ति। वह शक्तिशाली अवश्य होता है किन्तु क्रोधी अथवा आतंकवादी नहीं। उसका पद गौरवशाली होता है किन्तु प्रेम और सहानुभूतिहीन नहीं। वह नेता तो होता ही है किन्तु एकतन्त्रीय शासक की भांति आदेश देनेवाला नहीं; वरन् उनके कंधों-से-कंधा लगाकर कार्यरत रहनेवाला व्यक्ति। उसका कार्य इन चार अंगों में विभाजित हैं:—

(१) संगठन-व्यवस्था तथा संचालन, (२) निरीक्षण और मार्गदर्शन, (३) अध्यापन, (४) परीक्षा। इन कार्यों के सम्पादन में उसका निकट सम्बन्ध—(१) शिक्षकों, (२) शिक्षार्थियों, (३) समाज-पालकों तथा अभिभावकों और (४) अधिकारियों से होता है। इन सम्बन्धों को स्वस्थ रखने के लिए विचारणीय विन्दुओं का विवेचन नीचे किया जा रहा है:—

शिक्षक एवं सहयोगियों के प्रति—उसका व्यवहार ऐसा होना चाहिए जिससे उसके प्रति उनकी श्रद्धा और विश्वास हो। उसकी योग्यता के कारण उसके साथी उसे एक वास्तविक नेता के रूप में देखें और समय-समय पर उससे श्रद्धा के साथ मार्गदर्शन प्राप्त करने की इच्छा रखें। उसमें अपने सहयोगियों की त्रुटियों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुधारने की क्षमता हो। अच्छा काम करने पर निष्कपट भाव से उनके कार्य की प्रशंसा कर सके और कठिनाई में उनके प्रति सच्ची सहानुभूति कर सके। प्रधान को निष्पक्ष और दल-

बन्दियों से दूर रहना चाहिए। वह समस्त सहयोगियों के साथ समानता का व्यवहार करे और उसके सहयोगी शिक्षक भी उसे समान रूप से प्रेम करनेवाला व्यक्ति समझें। वह सहयोगियों को छोटा भाई और मित्र के समान समझे। उनकी कठिनाइयों को समझने तथा उनका निराकरण करने को तत्पर रहे जिससे पारस्परिक सद्भावना बढ़ती रहे। शाला की नीति को निर्धारित करते समय यदि सहयोगियों से भी परामर्श कर लिया जाय तो उसको कार्यान्वित करने में उनका सहयोग सुलभ हो जाता है। सहयोग की भावना तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के साथ प्रधान को हँसमुख, अध्ययनशील, परिश्रमी, सत्यवादी तथा स्पष्ट, आत्मविश्वासी, निष्पक्ष, ईमानदार और सच्चरित्र होना चाहिये।

उसमें अपने सहयोगियों को ठीक-ठीक समझने की योग्यता चाहिए। उसको यह भी ध्यान रखना होगा कि व्यक्ति-व्यक्ति, में और उसके स्वभाव में भिन्नता होती है इसलिए समानता की भावना रखते हुए भी उसको प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव के अनुकूल व्यक्तिगत हेर-फेर करने की आवश्यकता होगी। विशेषकर उसको अपने निकटस्थ सहायक को अपनी रीति-नीति से भली प्रकार परिचित कराना आवश्यक है क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में उसकी नीति का संचालन भार उसके कंधों पर आ जाता है। अच्छा हो यदि इन दोनों के उत्तरदायित्व, कर्त्तव्यों और कार्य-क्षेत्रों का पारस्परिक परामर्श से स्पष्ट बँटवारा कर लिया जाय।

अपने सहयोगियों की सामूहिक सभा में यद्यपि पद के कारण प्रधान का प्रमुख आसन होगा तो भी यह आवश्यक है कि उनके सहयोगियों को स्पष्टता से अपने विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता हो और उचित विचारों को मान्यता भी प्रदान की जाय। एकतन्त्रीय शासक की तरह केवल अपने आदेशोंमात्र की सूचना देना एक स्वस्थ परम्परा नहीं होगी। ऐसे समय प्रधान का एक आग्रह-पूर्ण अनुरोध उचित न होगा। अच्छा तो यह हो कि वह अपने विचारों और तर्क से साथियों को समझा-बुझाकर अपने मत के पक्ष में कर सके। प्रधान को एक नेता अवश्य कहा गया है; किन्तु नेता में नेतृत्व के गुण होना चाहिए। नेता वह है जो अपने साथियों का इच्छापूर्ण सहयोग प्राप्त कर सके। सैनिक अनुशासन में प्रायः इसमें कठिनता नहीं आती, क्योंकि उनका कप्तान उनसे बहुत ऊंची योग्यता रखनेवाला व्यक्ति माना जाता है; किन्तु शिक्षालय में

एक परिस्थिति होती है जिसमें प्राय: सबही साथ समान योग्यता और अनुभव रखनेवाले व्यक्ति होते हैं। ऐसी दशा में प्रधान को अधिक चतुरता और सतर्कता से काम लेने की आवश्यकता होती है ।

प्रधान को किसी दशा में शिक्षार्थियों के समक्ष शिक्षकों की त्रुटियों का प्रकाशन अन्यथा आलोचना नहीं करना चाहिये । इस प्रकार की समझायश उसको पृथक् रूप से करने की आवश्यकता है। यह हो सकता है कि शिक्षक को समझने में किन्हीं बिन्दुओं पर मतभेद भी रहे । ऐसी दशा में प्रधान को अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना आवश्यक है जिससे उसकी नीति का स्पष्टीकरण हो सके । आलोचना के साथ सुधार का सुझाव भी दिया जाना आवश्यक है अन्यथा केवल आलोचना मतभेद पैदा कर वातावरण को अस्वस्थ बना देती है ।

प्रधानाध्यापक शाला का संचालक तथा समस्त शिक्षकों के कार्यों का संयोजक है इसलिये यह आवश्यक है कि समय-समय पर शिक्षकों को एकत्र किया जाकर उनकी शैक्षणिक समस्याओं, कठिनाइयों और सुझावों पर विचार किया जाय । शिक्षकों के बीच मनोमालिन्य को दूर करें और उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करें। पक्षपात रहित व्यवहार और निर्णय से एक समरस वातावरण का निर्माण करें।

शिक्षार्थियों से सम्बन्ध.—प्रधानाध्यापक का जिनसे निकट सम्बन्ध होगा वे हैं शिक्षार्थी । शाला का स्वयं का उद्देश्य उचित वृत्तियों का निर्माण कर नई तालीम द्वारा नये व्यक्ति और उनके द्वारा नव समाज-रचना करना है । इस दृष्टि से प्रधान को शिक्षा-दीक्षा की वस्तु, पद्धति और उद्देश्यों से भली-भाँति परिचित होना आवश्यक है । शिक्षा जो किसी समय शिक्षण-वस्तु तथा शिक्षक-प्रधान थी अब बालक-प्रधान अथवा बालकेन्द्रित मानी गई है । इस नये मोड़ के कारण शिक्षार्थियों की प्रधानता और भी अधिक बढ़ जाती है । प्रधान को चाहिये कि वह विद्यार्थियों की आवश्यकता, भावना, वृत्तियों और उनके मनोविज्ञान को भली प्रकार समझे । बालकों-बालकों के व्यक्तिगत भेद को जानता हो और एक रथ में जुते हुए भिन्न-भिन्न गतिवाले घोड़ों की तरह उसकी रास सम्हालना जानता हो । उसका व्यवहार पिता की भाँति स्नेहपूर्ण हो । उसको विद्यार्थियों की समस्त प्रवृत्तियों में भाग लेकर सर्वव्यापी होने के विशेषण को चरितार्थ करना चाहिये । वह खेल के मैदान पर खिलाड़ी

हो, श्रम-कार्यों में श्रमिक हो, उद्योग-कार्यों में दस्तकार हो और अध्यापन-कार्य में अपनी योग्यता की छाप बैठानेवाला हो। विद्यार्थी न केवल उसके उपदेश से वरन् उसके आचरण से प्रेरणा प्राप्त करे। विद्यार्थी समाज में उसको स्वतन्त्रता से मिलना-जुलना चाहिये किन्तु किसी भी सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने की दृष्टि से मर्यादा-भग नहीं होने देना चाहिये। उसको पिता की तरह अपना आसन उच्च रखने की आवश्यकता है। विद्यर्थियों में उसको यह विश्वास पैदा करने की आवश्यकता है कि वह उनका सच्चा हितैषी, मित्र और मार्गदर्शक है, जो एक डॉक्टर की भाँति रोग का निराकरण करने के लिए कड़वा घूंट भी पिलाता है और आवश्यकता पड़ने पर चाकू भी चलाता है; किन्तु इन सब कड़वे कार्यों के पीछे उसकी उनके—विद्यार्थियों के लिये सद्भावना और उनका हित ही है। शासन युक्त और दण्ड निरपेक्ष समाज में दण्ड का स्थान तो नहीं है; किन्तु तो भी कभी पश्चात्ताप और उसके प्रायश्चित्त कराने की समस्त उपस्थित भी हो तो अपराधी को उस प्रायश्चित्त की न्यायप्रियता पर भरोसा हो जाना चाहिये। उसके व्यवहार में उसका दृष्टिकोण निस्वार्थ और उदार होना चाहिये। विद्यार्थी निर्भीकता के साथ अपनी कठिनाइयाँ और सुझाव उसके समक्ष रख सकें।

समाज सम्पर्क.—शिक्षा के उद्देश्यों की सफलता के लिए शिक्षार्थी, शिक्षक और अभिभावकों के प्रयत्नों का समन्वय होने की आवश्यकता है। हो सकता है कि किसी समय जब कि शिक्षा का क्षेत्र केवल शाला की चहारदीवारी तक ही सीमित हो तब शिक्षा समाज-सम्पर्क से अछूती रह सकती है; किन्तु जब शिक्षा के समाजीकरण की कल्पना नई तालीम में की गई है और सारे जावन को ही शिक्षा का क्षेत्र माना गया है तब शिक्षा की योजना समाज के सम्पर्क के बिना अधूरी ही रहेगी। इस दृष्टि से शाला के प्रधान को शिक्षालय को समाज-शिक्षा का भी केन्द्र बनाना होगा। शाला को समाज तक ले जाना होगा ओर समाज को शाला में लाना होगा। यह तब ही सम्भव है जबकि पालकों और अभिभावकों से निकट सम्पर्क साधा जाय और उनको शाला की गतिविधियों से समय-समय पर परिचित कराते हुए शाला के कार्यक्रमों में उनका क्रियात्मक सहयोग प्राप्त जाय। ऐसे अधिक-से-अधिक अवसर निकाले जायें जिनसे अभिभावक सम्पर्क में आसकें। उनसे समानता की भावना के साथ सभ्यता से मिला जाय। अकारण ही केवल सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने की दृष्टि से बार-बार

उनके पास चक्कर लगाते रहना शिक्षकोचित नीति नहीं है। प्रभावशाली, योग्य और चुने हुए व्यक्तियों से विशेष सम्पर्क साधने की भी आवश्यकता होगी; किन्तु इसका भी अकारण खुशामद का रूप नहीं होना चाहिये। शाला की प्रगति के लिए उनके गुणों का उपयोग करना एक बात है और केवल उनके कृपापात्र बनने का प्रयत्न करना दूसरी बात है।

अधिकारियों के प्रति.—अधिकारियों की श्रेणी में दो प्रकार के व्यक्तियों का स्थान है—शासकीय व्यवस्था में वरिष्ठ अधिकारी तथा अशासकीय व्यवस्था में व्यवस्थापक-मण्डल तथा उसके व्यवस्थापक। दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों से व्यवहार करते समय यह आवश्यक है कि निर्भीकता के साथ अपनी समस्याएँ और सुझाव प्रस्तुत किये जायें। केवल अधिकारियों का रुख देखकर बात करने का ढग किसी समय शाला की प्रगति के लिए घातक भी हो सकता है। यह अवश्य है कि प्रधान का निवेदन अथवा प्रतिवेदन मर्यादित, सभ्यतापूर्ण और नम्र हो। अपने विवेकपूर्ण तर्क और अपने प्रयोगों के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर उसको अपने निवेदन को पुष्ट करना चाहिये। अधिकारी द्वारा न्यायपूर्ण समझायश को उसे नम्रता से स्वीकार करना चाहिये। यह समस्याएँ अशासकीय व्यवस्थापकों से व्यवहार करते समय अधिक विषम हो जाती हैं जब कि प्रधान को उसके साथ व्यवहार करने में अनेक प्रकार के भय, आतंक, प्रलोभनों आदि अनेक प्रकार की कसोटी पर कसे जाने का अवसर आ जाता है। ऐसे समय प्रधान को अधिक दृढ़ता की आवश्यकता है।

अध्यापन-कार्य.—प्रधानाध्यापक को स्वयं एक अनुभवी अध्यापक होना आवश्यक है, जिसकी योग्यता की छाप उसके सहयोगी शिक्षकों और विद्यार्थियों पर पड़े। वह सच्चे रूप में उनका मार्गदर्शक हो, जिससे उसके पास उसके साथी श्रद्धा और निष्ठा के साथ मार्गदर्शन की इच्छा लेकर आसके। मूलोद्योग पर पर आधारित शिक्षा और समवाय की प्रणाली के साथ तो यह अवश्य ही हो जाता है कि प्रधान की प्रियता न केवल चतुर्मुखी वरन् बहुमुखी हो जो अपने अधिक-से-अधिक सहयोगियों के साथ उनके कार्य में हाथ बटा सके और अपने स्वयं के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर उनको परामर्श भी दे सके। उसको शिक्षा की नवीन प्रणालियों, योजनाओं से भी परिचित रखना आवश्यक होगा जिससे अध्यापन-कला में उसकी प्रवीणता समयानुकूल रहे।

शाला संगठन.—शाला के संगठन में नई शिक्षा के अनुसार शाला को एक प्रजातान्त्रिक समाज का रूप देना आवश्यक है जिसमें शाला के परिवार का स्वयं का एक विधान हो जो सब सदस्यों के सामूहिक परामर्श से बनाया गया हो। जिसमें कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व का स्पष्ट उल्लेख हो। समस्त कार्यकर्त्ताओं में कार्य का उचित योग्यतानुसार न्यायपूर्ण विभाजन हो। कार्य की वार्षिक, मासिक, साप्ताहिक योजना सुनिश्चित की गई हो। वर्ष भर के अतिरिक्त कार्यक्रमों कों का निर्धारण किया गया हो। विद्यालय के आवश्यक आलेखों और अभिलेखों को रखा गया हो। शाला की सम्पूर्ण गतिविधि पर प्रधानाध्यापक की दृष्टि हो और समय-समय पर उसका निरीक्षण अपने सहयोगियों का छिद्रान्वेषण न करते हुए उनका रचित मार्गदर्शन हो।

परीक्षा-समीक्षा तथा मूल्यांकन—इस प्रकरण पर पृथक् रूप से विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है। यहाँ केवल यही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि पुस्तकीय शिक्षा के स्थान पर शिक्षा को अधिक-से-अधिक क्रियात्मक तथा व्यावहारिक बनाने से परीक्षा-प्रणाली में भी बड़ा अन्तर करने की आवश्यकता पड़ गई है। यह कार्य केवल वर्ष के अन्त में लेखी परीक्षा-मात्र से नहीं हो सकता है। शिक्षार्थियों के कार्य और उनकी प्रगति का दैनिक, मासिक और वार्षिक लेखा-जोखा रखना होगा, जिसमें उनकी समस्त योग्यताओं का उचित मूल्यांकन किया जा सके। संतुलित, सुमंजसित व्यक्तित्व का निर्माण जब शिक्षा का उद्देश्य मान्य किया जा चुका है, तब केवल स्मृति की जांच-मात्र व्यक्तित्व के मूल्यांकन के लिए पर्याप्त नहीं मानी जा सकती है। बुनियादी शाला के प्रधान को इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक होगा।

कार्य द्वारा शिक्षा की प्रणाली में यद्यपि पक्षपात की अधिक गुंजाइश नहीं है क्योंकि शिक्षक और शिक्षार्थी द्वारा रखा गया लेखा-जोखा उसकी प्रगति का स्पष्ट दर्पण होगा तो भी यह आवश्यक है कि परीक्षा के प्रकरण में प्रधानाध्यापक पक्षपात रहित, न्यायी, बालकों का हितैषी और उदार दृष्टिकोण रखनेवाला होना चाहिए। उसको किसी भी अनावश्यक दबाव और प्रभाव के कारण न्यायोचित मार्ग को छोड़ना अनुचित है। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाय कि शिक्षक किसी बालक को केवल प्रसन्नता मात्र के कारण अनावश्यक रियायत न देसके अन्यथा अप्रसन्नता के कारण उसका किसी प्रकार नुक्सान कर सके।

निरीक्षण—प्रधानाध्यापक का कार्य संचालन एवं शाला के शासक के अतिरिक्त एक निरीक्षक का भी है। एक सामूहिक उत्तरदायित्व के कार्य में, जहाँ कि उसको सब साथियों के कार्यों का समन्वय भी करना है यह नितान्त आवश्यक है कि उसके सब सहयोगी अपने-अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को ठीक-ठीक निभा रहे हैं। इस कार्य के लिए उसका निरीक्षण आवश्यक है। उसके निरीक्षण के तीन अंग हो सकते हैं—१. पाठशाला के भीतर तथा बाहर विद्यार्थियों की सुख-सुविधाओं और उनके अमन-चैन के कार्यों पर नजर रखे, २. अपने सहयोगियों के अध्यापन-कार्य तथा अतिरिक्त कार्यक्रमों में उनके कार्यों को देखे, ३. शाला-भवन, सामान-सज्जा, रेकार्ड और हिसाब-किताब का निरीक्षण। यह आवश्यक है कि आजकल कार्यालय के कार्य-बाहुल्य के कारण इन आवश्यक दिशाओं में समय कम दिया जाने पाता है। किन्तु इन शासकीय कार्यों के लिए अपने सहयोगी कार्यकर्त्ताओं की सहायता लेना चाहिए जिससे इस दिशा का उसका स्वयं का भी कार्य-भार हलका होगा और उनको भी इन कार्यों का अनुभव मिलेगा जो उनको उनके स्वतन्त्र कार्य-संचालन के समय उपयोगी सिद्ध होगा। इतना सब कार्य-विभाजन करने के पश्चात् भी प्रधान को अपने अन्तिम उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं समझना चाहिए। आखिर संचालक के नाते इन समस्त कार्यों का उत्तरदायित्व उसी का है।

शिक्षालय की पाठ्येतर प्रवृत्तियाँ

शिक्षा के नवीनीकरण के साथ शिक्षा की संकल्पना भी बदल गई है। शिक्षा जो किसी समय केवल लिखने-पढ़ने तक ही सीमित थी आज हाथ, हृदय और मस्तिष्क की समन्वित शिक्षा के रूप में मान्यता प्राप्त कर रही है। शिक्षा का माध्यम जो केवल पुस्तकें मात्र ही थीं उनके स्थान पर प्राकृतिक, सामाजिक तथा औद्योगिक वातावरण ने स्थान ले लिया है। शिक्षा का अधिक-से-अधिक समाजीकरण किया जा रहा है। शिक्षालयों को समाज का ही रूप दिया जा रहा है जिनमें अधिक-से-अधिक सामाजिक प्रवृत्तियों को स्थान देने का प्रयत्न है। शिक्षालय और समाज का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया जा रहा है, जिससे शिक्षार्थियों में समाजोपयोगी गुणों का विकास हो। इस दृष्टि से शिक्षालयों में इन अतिरिक्त प्रवृत्तियों का स्थान प्रधान प्रवृत्तियों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। शिक्षालय अपनी चहारदीवारी की सीमा को पारकर प्राकृतिक, सामाजिक वातावरण में विस्तार कर रहा है। शिक्षालय के सामाजिक पहलू पर पूर्व के अध्यायों में प्रकाश डाला गया है। उन्हीं पंक्तियों के प्रकाश में पाठ्येतर प्रवृत्तियाँ अपना निखरा हुआ उपयोगी दर्शन प्रस्तुत करती है जिनके द्वारा शिक्षा के सामाजिक उद्देश्यों की पूर्त्ति सम्भव है। चूँकि अधिकांश प्रवृत्तियों का उदय बालकों की स्वयं की रुचि उपाय और अन्तः प्रेरणा से है इसलिए उनके रूप भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

इन क्रियाकलापों और गतिविधियों द्वारा अनेक उपयोगी उद्देश्यों की पूर्त्ति होती है :—

(१) सब से पहली उद्देश्यपूर्त्ति है बालकों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति, जिससे सामूहिकता का गुण प्रधान है। अनेक सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं जिनकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से व्यक्ति एवं समाज दोनों का ही विकास होता है।

खेल का मैदान बिना ढका स्कूल है

(२) लोकतन्त्र की शिक्षा के लिए इस प्रकार का नागरिकता के अभ्यास का वातावरण आवश्यक है। इसमें बालक अपने उत्तर-दायित्व को निभाना सीखते हैं। अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों की सीमा को समझते हैं और दूसरों के अधिकारों का भी बोध होता है।

(३) व्यक्तिगत गुणों के विकास का अवसर मिलता है मिलता है जिससे नेतृत्व के गुणों की पहचान की जा सकती है। पर-म्परावलम्बन द्वारा सहयोग की भावना जाग्रत होती है। समाज के लिए काम करने की भावना से त्यागवृत्ति का उदय होता।

(४) आत्मानुशासन, स्वयंसंचालन, आत्मनियंत्रण, निस्वार्थता, के सद्गुणों का अभ्यास होता है।

(५) बालकों के विशेष गुणों की अभिव्यक्ति के अवसर प्राप्त होते हैं। उनकी विशेष मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

(५) बालकों के विशेष गुणों की अभिव्यक्ति के अवसर प्राप्त होते हैं। उनकी विशेष मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

(६) बालकों की व्यवस्था की योग्यता, योजना बनाने की योग्यता, मार्गदर्शन, युक्तिवादिता, प्रत्युत्पन्नमति, विश्वासपात्रता, लगन, दृढ़ता आदि चारित्रिक गुणों का परिचय और उनके विकास का अवसर प्राप्त होता है।

(७) बालकों की शक्ति को समाजोपयोगी कार्यों में लगाया जा सकता है।

(८) भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के बालकों की रुचियों को तुष्ट किया जा सकता है।

(९) अवकाश के सदुपयोग की शिक्षा देना एक अच्छी शिक्षा-योजना का अंग है। जब बालक इन अतिरिक्त प्रवृत्तियों में भाग लेते हैं तो उनको अपने अवकाश के सदुपयोग के कई साधन ऐसे प्राप्त होते हैं जो शिक्षालय के जीवन के बाद भी उनके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों को उपयोगी सिद्ध होते हैं।

इनके उपयोग और महत्त्व को समझने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि शिक्षालयों द्वारा इनका उचित संचालन और व्यवस्था हो। शाला के शिक्षकों को इस कार्यक्रम के निर्माण और संचालन में क्रियात्मक सहयोग देना चाहिये। उनमें से प्रत्येक को अपनी रुचि के अनुसार किसी-न-किसी कार्यक्रम में भाग लेना ही चाहिये। उसके आयोजन, व्यवस्था और संचालन का भार ऐसे ही किसी शिक्षक के सुपुर्द रहना चाहिये जो उसमें रुचि रखता हो। इन कार्यक्रमों की सफलता इस बात पर सब से अधिक निर्भर है कि शिक्षार्थी उनके उद्देश्यों, उपयोग और महत्त्व को भली प्रकार समझ लें और उनकी रुचि और मनोवृत्ति के अनुकूल हों। किसी शिक्षार्थी पर किसी कार्यक्रम को लादा जाना उचित न होगा। शाला संगठन का केवल एक ही काम है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यक्रमों का समावेश किया जाय जिससे बालकों को उनमें अपनी रुचि के अनुसार भाग लेने को पर्याप्त अवसर मिल सके। इसी के साथ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जिसमें कम-से-कम शिक्षार्थी भाग लेनेवाले हों उसको, प्रोत्साहित किया जाय। बालकों के अनुपात से जिन कार्यों में अधिक धन के व्यय की आवश्यकता हो उनको कम ही प्रोत्साहन दिया जाय। इतनी अधिक प्रवृत्तियों को भी स्थान देना उचित न होगा जिससे कतिपय विशेष योग्यता रखनेवाले शिक्षार्थियों पर उनका अनावश्यक बोझ पड़े। इन प्रवृत्तियों को कभी शाला के समय में, कभी शाला के समय के बाद, कभी अवकाश के दिनों में भी स्थान देने की आवश्यकता पड़ जाती है। इसलिए यह अच्छा हो यदि साल भर के कार्यक्रमों की रूपरेखा बालकों के समक्ष रहे जिससे नियत अवसर की प्रतीक्षा में बालक अपनी तैयारी में व्यस्त रहे। दैनिक समय-विभाग-चक्र में भी इनको नियमित स्थान दिया जा सकता है। कभी-कभी सप्ताह के अन्तिम दिवस शनिवार आदि का आधा समय इन कार्यों के लिए नियत किया जाना उपयोगी सिद्ध हुआ है। किन्हीं शालाओं में इन कार्यों के लिए दैनिक कार्यक्रम में एक काल-खण्ड पृथक् रूप से नियत कर देते हैं जिसमें बालक अपनी-अपनी रुचियों के अनुसार तैयारी में लगे रहे हैं।

यह तथ्य निर्विवाद सत्य है कि विद्यार्थियों को इन क्रियाकलापों में अधिक-से-अधिक भाग लेने को प्रोत्साहित किया जाय। प्रश्न यह होगा कि प्रोत्साहन का रूप क्या हो? यदि पुरस्कार की बात रखी जाय तो बुनियादी शिक्षा के

सिद्धान्तों के अनुसार पुरस्कार को प्रोत्साहन प्राप्त न होगा क्योंकि कार्य-कुशलता-प्राप्ति ही स्वयं उसका पुरस्कार है। पुरस्कार के इस पहलू पर "दण्ड और पुरस्कार" शीर्षक से पृथक् चर्चा की गई है। मानव प्रकृति के अनुसार प्रोत्साहन अवश्य ही चाहिये जो इस ओर प्रवृत्ति होने में प्रेरणा-दायक हो। प्रायः अच्छे व्यवस्थित विद्यालयों में यह देखा गया है कि शैक्षणिक महत्त्व के अनुसार इन प्रवृत्तियों में कुशलता का अंकों के रूप में मूल्यांकन किया जाता है और बालकों की सर्वांगीण प्रगति में वर्गोन्नति के समय इसका भी लेखा जोखा ध्यान में रखा जाता है। इतना अवश्य है कि बालक की इस दिशा की गतिविधियों पर नज़र रखना पड़ती है जिससे बालक का एकांगी विकास होकर दूसरी दिशाओं में प्रगति अवरुद्ध हो जाय। इस उद्देश्य से इस दिशा में शिक्षकों के नियंत्रण और मार्गदर्शन की आवश्यकता प्रतीत होती है। शिक्षकों के निर्देशन में उचित प्रगति की सम्भावना है। जिन शिक्षकों को यह कार्यभार सम्हालने को दिया जाय वे उन प्रवृत्तियों में रुचि भी रखते हों और उस दिशा में मार्गदर्शन की योग्यता भी। उनका दृष्टिकोण बालकों के प्रति उदार और सहानुभूतिपूर्ण हो। वे बालकों की मनोवृत्ति से भली प्रकार परिचित हों। उनको चाहिये कि गौण रूप से इस प्रकार मार्गदर्शन करें कि बालकों की स्वयं की उमंग, उत्साह, रुचि और मौलिकता कुंठित न हो। बालकों में उनके प्रति आदर, योग्यता के प्रति श्रद्धा, व्यवहार से प्रेम हो और बालकों का विश्वास उनको प्राप्त हो।

इस दृष्टि से इन क्रियाकलापों के मार्गदर्शक शिक्षकों का चुनाव एक महत्त्व का काम है। निरुत्साही, रुचि न रखनेवाले और कार्य को भार समझने-वाले शिक्षक इस कार्य की प्रगति को घातक ही सिद्ध हुए हैं। कभी-कभी बड़े विद्यालयों में यह युक्ति उत्तम सिद्ध हुई है कि उस संस्था के प्रधान द्वारा उपयुक्त शिक्षकों के दो या तीन नाम प्रस्तावित कर दिए जाएँ और विद्यार्थी उनमें से स्वयं अपनी रुचिनुसार निर्वाचित करलें। इस योजना द्वारा मार्गदर्शक शिक्षक और शिक्षार्थियों में पारस्परिक सद्भावना, श्रद्धा, प्रेम और विश्वास बना रहता है। कभी-कभी प्रदान द्वारा ही उपयुक्त शिक्षक उनकी योग्यता तथा रुचिनुसार पृथक्-पृथक् कार्यों के लिए नियुक्त किये जाते हैं। किन्तु प्रधान को विशेष परिस्थितियों में ही ऐसे अधिकार को काम में लाना लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के अनुकूल है।

रूढ़िगत विचारधारावालों का कभी-कभी यह आक्षेप हुआ करता है कि (१) बालकों के अध्ययन में बड़ी बाधा पड़ती है, (२) शिक्षकों पर अनावश्यक कार्यभार बढ़ जाता है, (३) कभी-कभी उन उद्देश्यों की पूर्त्ति में सफलता प्राप्त नहीं होती जो लक्षित हैं। पहली बात का उत्तर तो स्पष्ट है कि बालकों में जागरूकता और चेतन्यता आती है, उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलता की प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति प्राप्त होती है, बालकों के ज्ञान में व्यावहारिकता और सजीवता आती है, वास्तविक पस्थितियों के माध्यम से शिक्षा देने के सुलभ अवसर प्राप्त होते हैं, अध्ययन और अध्यापन-कार्य की एकतारता टूटती है और परिवर्तन मनोरंजन और ताजगी का काम देता है और नवीन स्फूर्त्ति प्राप्त कर बालक नियमित कार्यों में अधिक वेग, रुचि और लगन से काम करते हैं। दूसरी बात भी असत्य नहीं है; किन्तु एक चतुर शाला-संचालक पाठ्यकर्म के अन्तर्गत तथा पाठ्येतर दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का हिसाब लगाकर काम का बँटवारा करता है और उसी संख्या में उस विद्यालय में शिक्षकों का दिया जाना उचित भी होगा यदि वास्तव में इन साधनों का समुचित उपयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में किया जाना है। यदि इन तथ्यों को ध्यान में रखा जा सकता है तो कार्य का उचित विवरण इस समस्या को भी हल कर सकेगा। तीसरी बात है उद्देश्यों की पूर्त्ति, इसका लक्ष्य मार्गदर्शक शिक्षक को रखना होगा। प्रत्येक क्रियाकलाप और उससे सम्बन्धित गतिविधियों का उचित मूल्यांकन हो और उनके शैक्षणिक महत्त्व के अनुसार ही उनको कार्यक्रम में स्थान दिया जाय। यदि यह निगाह रखी जा सके तो इस खतरे का भी भय नहीं रहेगा।

नीचे पाठ्येत्तर प्रवृत्तियों की एक सांकेतिक सूची दी जाती है जिसके द्वारा बालकों में सामाजिक नागरिकता और नैतिक गुणों का सम्यक् विकास हो सकता है। किस-किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ और कितनी किस शाला में समाविष्ट की जायें यह दूसरी बात पर निर्भर रहेगा कि शाला में शिक्षकों की संख्या कितनी है, विद्यार्थियों की संख्या कितनी है, शाला की आर्थिक स्थिति क्या है, साधनों की सम्पन्नता कैसी है, मार्गदर्शक शिक्षकों की योग्यता, रुचि और उत्साह कैसा है और शाला के आस-पास का वातावरण अनुकूल है या नहीं। इस दृष्टि से प्रत्येक शाला को अपनी-अपनी परिस्थियों के अनुसार योजना बनाना होगी। प्रस्तावित प्रवृत्तियों की सांकेतिक सूची यह है:—

(१) **साहित्यिक**—साहित्यिक सभा संचालन, साहित्य अध्ययन मंडल,

वाद-विवाद, भाषण, कवि-सम्मेलन, विचार-गोष्ठी, कवि-दरबार और शाला-पत्रिका का सम्पादन तथा प्रकाशन आदि ।

(२) **रंजनात्मक**—सम्वाद, परिसम्वाद, नाटक, एकांकी, अनुकृतियाँ, अभिनय आदि । लोकगीत, लोक-नृत्य, गायन-वादन आदि । सांस्कृतिक आयोजनों में इनका उचित स्थान है ।

(३) **सांस्कृतिक**—प्रार्थनाएँ, कला, साहित्य तथा संगीत उपासना, पर्व, उत्सव तथा त्यौहारों का आयोजन, शाला-दिवस, पालक-दिवस एवं वार्षिकोत्सव आदि का आयोजन, शैक्षणिक यात्रा, पर्यटन, भ्रमण, संग्रहालय, प्रदर्शनी शिक्षण-मेला, समाजसेवा आदि ।

(४) **खेल-कूद**—स्वास्थ्यप्रद तथा मनोरंजनकारी प्रवृत्तियों में इनका स्थान है । बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रम में उद्योग का समावेश होने से यद्यपि बालकों का पर्याप्त व्यायाम हो जाने की संभावना है तो भी इसका अर्थ यह नहीं है कि खेल-कूद अपने स्थान पर अपना शैक्षणिक मूल्य नहीं रखते हैं । यह धारणा भ्रमात्मक है कि बुनियादी शिक्षा योजना में इनका कोई स्थान नहीं है । खेल बालकों के शिक्षण में शताब्यिों से गुड़-लिपटी गोली का का काम करते आ रहे हैं इसीलिए शिक्षा-विशेषज्ञों ने भी खेल के मैदान को, बिना ढकी पाठशाला की संज्ञा दी है । इस शैक्षणिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए स्वास्थ्यप्रद मनोरंजक व्यायाम, सामूहिक कार्य में अनुशासन लाने के लिए उचित ड्रिल तथा मनोरंजन के लिए उचित चयन किए हुए खेलों का आयोजन किया जाना चाहिए ।

(५) **समाज-संगठन**—छात्र-संसद, मन्त्रि-मण्डल, विधान, ग्रामसभा, कार्यों का प्रतिवेदन, प्रश्नोत्तर आदि लोकतन्त्रीय नागरिकता के गुणों का विकास करने का उत्तम साधन है ।

(६) **प्रतियोगिताएँ**—यद्यपि यह विशेष आयोजनों का अंग हो सकती हैं तो भी शाला की समस्त प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि क्रिया-कलापों को स्थान मिलना चाहिए, जिससे प्रत्येक रुचि का

प्रतिनिधित्व हो सके। बालकों को अपनी रुचि और विशेषता के प्रदर्शन का अवसर प्राप्त होकर आत्मगौरव की भावना तुष्ट हो। साहित्यिक, शैक्षणिक, शारीरिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, सृजनात्मक, रंजनात्मक आदि सब ही प्रकार की प्रवृत्तियों को स्थान प्राप्त हो सकता है। अच्छा हो, यदि प्रत्येक बालक को पृथक्-पृथक् अंक दिए जाकर कक्षा की सामूहिक प्रगति के आधार पर विजय की घोषणा की जाय और उसका विजय-चिन्ह उस कक्षा को दिया जाय। बालकों की व्यक्तिगत प्रगति का भी मूल्यांकन हो सकता है तथा उसमें सामूहिक प्रयत्न द्वारा सामाजिकता की भावना बढ़ेगी। पूर्व नियोजित योजनानुसार यदि वर्ष के पूरे भागों में इनको फैला दिया जाय और बालकों को इस निश्चित एवं निर्धारित कार्यक्रम की पूर्व जानकारी हो तो दूसरे बालकों को एक लक्ष्य की ओर बढ़ने में अच्छी प्रेरणा मिलती है।

(७) **हॉबीज (प्रिय वस्तुओं का संग्रह, निर्माण तथा साधना):—**

(अ) अव्यावसायिक रुचियाँ जिनके अन्तर्गत भाषा साहित्य, समाज-शास्त्र, सामान्य-विज्ञान और गणित आदि।

(ब) कला संगीत से सम्बन्धित जिसमें फोटोग्राफी, चित्रकारी, गायनवादन आदि का स्थान है।

(स) भ्रमण, पर्यटन आदि प्राकृतिक वातावरण की रुचियों से सम्बन्धित।

(द) औद्योगिक एवं सृजनात्मक रुचियों के लिए शाला में उन साधनों की आवश्यकता है जिनसे बालक अपनी अतिरिक्त शक्ति का उपयोग इन रुचिपूर्ण दिशा में कर सके। पालक-दिवस आयोजन और विशेष अवसरों पर की गई प्रदर्शनी इस दिशा में बड़ी प्रेरणादायक सिद्ध हुई है।

(ई) सामाजिक व आर्थिक रुचियों के लिए शाला की दूकान, सहकारी भण्डार, समाज-सेवा-मण्डल, बालचर-मण्डल, प्राथमिक सहायता समिति आदि का उपयोग किया जा सकता है।

इन विभिन्न प्रवृत्तियों के आयोजन और व्यवस्था पर सविस्तार विचार करने की आवश्यकता है।

साहित्यक—इस प्रवृत्ति द्वारा बालकों में विशेषकर अपने भावों और विचारों को दूसरों पर प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने की तथा दूसरों के विचारों को समझने की योग्यता प्राप्त होती है। वाद-विवाद द्वारा न्याय एवं तर्कसंगत विचारों को मान लेने की तथा विवेक रहित, असंगत विचारों को दृष्टि रूप से विरोध करने की क्षमता प्राप्त होती है। समाज को अपना दृष्टिकोण समझाना और अपने उद्देश्य विन्दु की ओर झुकाने की क्षमता प्राप्त होती है। साहित्य भावों का परिष्कार कर जीवन को सरस और स्निग्ध बनाता है। साहित्यिक भावाभिव्यक्ति दोनों ही प्रकार की होती है—मौखिक तथा लिखित। कुछ बालकों में मौखिक तथा कुछ में लिखित की विशेषता रहती है। इसलिए इन दोनों का ही समावेश किया जाना उचित होगा। वाद-विवाद के विषयों का चयन एक बड़ा काम है। विषय बालकों की रुचियों, अनुभव और स्तर के अनुकूल हों। अच्छा हो यदि बालकों के शाला, घर और समाज के जीवन और सामाजिक चर्चा आदि से सम्बन्धित कुछ विषयों की एक सूची बना ली जाय और बालक उसमें से चुन लें। विषय चुने जाने के बाद दोनों दलों को विषय से सम्बन्धित सामग्री संकलन करने को मार्गदर्शन किया जाय। शाला की पत्रिका लिखित भावाभिव्यक्ति का उत्तम साधन है। यह न केवल साहित्यिक साधन का ही माध्यम है, अपितु शाला की गतिविधियों से परिचित कराने का अच्छा ढंग है। संस्थाओं की समस्याओं, सुझावों और प्रयोगों की जानकारी सुलभ प्राप्त हो सकती है और प्रत्येक संस्था को तुलनात्मक प्रगति के मूल्यांकन का अवसर प्राप्त होता है।

साँस्कृतिक.—पर्व, उत्सव, त्योहार तथा शाल के विशेष आयोजन इन प्रवृत्तियों को उत्तम अवसर प्रदान करते हैं। स्वस्थ मनोरंजन तथा रचनात्मक कार्यक्रम इन आयोजनों के प्राण हैं। बड़े-बड़े

नाटकों का बीजारोपण छोटे-छोटे बाल-अभिनयों में हो जाता है। बड़े-बड़े कलापूर्ण नृत्यों की भूमिका साधारण लोक-नृत्यों में बन जाती है। बड़े-बड़े गायकों की स्वर-साधना का आरम्भ इस बाल्य जीवन की संगीत की गतिविधियों में हो जाता है। संस्कृति से परिचय कराना और भावों का परिष्कार करना इन्हीं कार्यक्रमों का काम है। इन आयोजनों की सफलता के लिए इन बातों को ध्यान में रखना उपयोगी होगा :—

(१) सामूहिक बैठक में आयोजन की रूपरेखा निश्चित की जाय सामूहिक बैठक में आयोजन की रूपरेखा निश्चित की जाय। समारोह की आवश्यकता, मनाने की विधि, समय, कार्यक्रम, कार्य-विभाजन आदि पर विचार-विनिमय किया जाय।

(२) साधनों की उपलब्धि भी एक विचार का विषय है। यथासम्भव स्थानीय साधनों का ही उपयोग किया जाय।

(३) सफाई व सजावट का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। इसमें भी स्थानीय साधनों का ही उपयोग हो। इन सब कर्मों में मितव्ययता का ध्यान रखना आवश्यक है।

(४) कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किया जाय कि समाज के अधिक-से-अधिक सदस्यों को कार्य मिल सके।

(५) कार्यक्रम में विविधता का समावेश हो।

(६) बालकों तथा निकटवर्त्ती समाज को आमंत्रित किया जाय।

(७) पाठशाला की विभिन्न गतिविधियों का समाज को परिचय मिले इस प्रकार के विभिन्न कार्यक्रमों को स्थान दिया जाय।

(८) सृजनात्मक एवं रंजनात्मक प्रवृत्तियों का व्यवस्थित आयोजन किया जाय।

(९) उत्सव एवं त्योहारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित किये जाने को साहित्यिक अध्ययन एक पूरक अंग होगा। इस प्रकार अनेक क्रिया बालकों के कुशल संचालन में विविध

प्रकार के साहित्यिक एवं सामाजिक अध्ययन और साहित्य-सृजन की सम्भावनाएँ भरी पड़ी हैं। बालक योजना की पूर्ति में गौण रूप से इस गहन अध्ययन की ओर प्रवृत्त होते हैं जो रुचि पूर्ण और सउद्देश्य होता है।

(१०) प्रदर्शन तथा प्रदर्शिनी भी इन आयोजनों के अंग हैं।

(११) सामाजिक सम्पर्क बढाने का अच्छा साधन है कुशल संचालन। इन आयोजनों में पड़ोसियों का अच्छा क्रियात्मक सहयोग प्राप्त कर सकते हैं, जिससे शाला और समाज में घनिष्टता स्थापित हो सके।

खेल-कूद तथा शारीरिक कार्यक्रम.—पाठ्येतर कार्यक्रमों में खेल-कूद का स्थान बड़ा लोकप्रिय है। शारी रिक क्रियाशीलता के साथ बालकों को अपनी शक्ति के प्रदर्शन के साथ आत्म-गौरव की भावना को तुष्ट करने का अवसर मिलता है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, और नैतिक विकास का अवसर मिलता है, पूरी उमंग और उत्साह का उपयोग होने के कारण पूरे व्यक्तित्व का विकास होता है, शक्ति और साहस में वृद्धि होती है, अतिरिक्त शक्ति का उपयोग होता है। खेल के मैदान को लोकतन्त्र का पालना कहा गया है, जिसमें व्यक्तिगत प्रयत्न के साथ दूसरे के अधिकारों का ध्यान रखा जाना है और बालक अपने दल के लिए त्याग और बलिदान करना सीखते हैं। ज्यों ही खिलाड़ी अपने दल का बाना पहिनता है वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को अपने दल के स्वार्थ में निहित कर देता है। खेल की विजय और हार के अभ्यास का रुख जीवन की विजय और हार के प्रति भी वैसाही बन जाता है। सच है जिसको हार को झेलना नहीं आया उसे जीतना नहीं आ सकता है। इसके संचालन में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है कि कहीं कतिपय अच्छे खिलाड़ियों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार न हो और उनके इन विशेष गुणों का अनावश्यक उपयोग केवल पाठशाला की कीर्त्ति मात्र के ही लिए न किया

जाय। अधिक-से-अधिक बालकों को इस ओर आकृष्ट करना इस दिशा में शैक्षणिक महत्त्व रखता है। यह आवश्यक है कि बालकों की अवस्था तथा रुचि के अनुसार उनको विभिन्न दलों में विभाजित कर दिया जाय। उनकी प्रगति के अनुसार अधिक उन्नत दल में उनको प्रवेश दिया जा सकता है। खेलों की व्यवस्था के लिए मार्गदर्शक शिक्षकों, खेल के कप्तानों की एक सम्मिलित समिति बनानी चाहिए। कहीं-कहीं स्थानीय डॉक्टर का भी इस समिति में सहयोग उपयोगी सिद्ध हुआ है। स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रकरणों में उसका परामर्श लाभदायक होगा। अधिक-से-अधिक बालकों को खेलने का अवसर मिले इसके साथ यह भी जरूरी है कि उनको नियमित रूप से खेलने को मिले। जहाँ स्थानाभाव है वहाँ बारी-बारी से दलों को अवसर दिया जा सकता है। वर्त्तमान प्राथमिक शालाओं की स्थिति को ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि उनमें प्रायः कम भूमि में खेले जानेवाले तथा कम-से-कम सामान की आवश्यकतावाले खेलों को ही स्थान मिल सकता है।

हॉबीज.—बालकों में विभिन्न रुचियों का निर्माण उसके चारित्रिक विकास के लिए आवश्यक है। बालक का झुकाव इस प्रकार की विभिन्न दिशाओं में होता है। यदि शाला में इन विभिन्न रुचियों के विकास के साधन उपलब्ध हो सकें तो बालकों को अपने अवकाश का सदुपयोग करने का अवसर प्राप्त होता है। शिक्षालय के जीवन के बाद के लिए भी उसे साधन मिल जाता है। आज के विज्ञान ने औद्योगीकरण द्वारा मनुष्य के समय की बहुत बचत कर दी है। यदि इस बचे हुए समय का सदुपयोग सुरुचि के कार्यों में न हो सकता तो मनुष्य की शक्तियों को अवांच्छनीय मार्गों में प्रवाहित हो जानेका भय है। इसलिए स्कूल की समितियाँ, मंडल और विभिन्न साहित्य, कला और संगीत की साधना, उद्योग की प्रवृत्तियाँ ऐसे साधन उपलब्ध करती हैं कि बालक उनमें तन्मयता के साथ अपने अवकाश को व्यतीत करता है।

(८) **शाला का सामाजिक संगठन.**—पृथक् अध्याय में इसपर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

तात्पर्य यह है कि चतुर्मुखी प्रतिभावाले शिक्षक इस प्रकार के अनेक शिक्षोपयोगी प्रेरणा-श्रोतों का उपयोग कर सकेंगे। इस प्रकार ज्ञान-बुद्धि से योजनाबद्ध रूप में किया गया काम शिक्षा का उत्तम साधन हो सकेगा। शिक्षा पुस्तकों की सीमा और शाला की चहारदीवारी को पार कर जीवन के स्वाभाविक वातावरण में पदार्पण करेगी और जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में जीवन द्वारा जीवन के लिए शिक्षा प्राप्त होगी जो सतेज, सरस, सउद्देश्य और सुसंस्कृत जीवन के निर्माण में सहायक होगी।

शिक्षालय में प्रदर्शनी

प्रकाश में आना आत्मा का स्वाभाविक गुण है। शिक्षा ज्ञान-प्राप्ति उसका संचय और उसके प्रकाशन का साधन है। यह अभिव्यक्ति लिखित भी होती है और मौखिक भी। भाव-प्रकाशन की सबसे प्राचीन शैली चित्र-लिपि ही रही है। यह हमारे विचारों और भावनाओं को मूर्त्त रूप देती है। यह मस्तिष्क की क्रियाशीलता का साकार रूप है। दस्तकारी और उद्योग मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति का आश्रय पाकर अनेक गुणों के प्रकाशन का साधन बन जाते हैं। इसी प्रकाशन तथा प्रदर्शन के अनेक रूपों के समारोहों को प्रदर्शनी कहते हैं।

आजकल भिन्न-भिन्न प्रदर्शन और प्रदर्शनियों की प्रथा चल पड़ी है। उनके उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। उद्योग को प्रोत्साहन, योजनाओं का परिचय, कला का प्रदर्शन, मेले का प्रतिरूप, समाज के सम्मेलन का साधन, मनोरंजन, पैसा कमाना, प्रेरणा प्रतियोगिता आदि अनेक उद्देश्य होते हैं। किन्तु शिक्षालयों की प्रदर्शनी का तो शैक्षणिक महत्त्व होना चाहिए; क्योंकि प्रदर्शनी शिक्षा देने का भी एक उत्तम साधन है। कभी-कभी प्रदर्शित वस्तुएँ उत्सुकता उत्पन्न कर ज्ञान-पिपासा को जागृत कर उसकी पूर्त्ति की जिज्ञासा उत्पन्न करती हैं। इससे ज्ञानार्जन में प्रेरणा प्राप्त होती है।

बुनियादी स्कूलों में प्रदर्शनी का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह शाला की प्रगति का परिचायक है। जहाँ यह एक ओर प्रचार व प्रसार की दृष्टि से उपयोगी है वहाँ दूसरी ओर बालकों के प्रोत्साहन का भी साधन है। बालक आत्मगौरव चाहते हैं। वे प्रशंसा के भूखे होते हैं। वे अपनी कृतियों का प्रदर्शन कर और प्रशंसा पाकर ही संतोष कमाते हैं। आर्थिक पुरस्कार उनके लिए इतने महत्त्व के नहीं हैं जितनी उनके कार्यों की सराहना। इसलिए शाला के विशेष अवसरों पर जबकि पालक, अभिभावक और दर्शक पर्याप्त संख्या में इकट्ठा होते हैं एक प्रदर्शनी का आयोजन बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होता है।

शिक्षालयों में प्रदर्शनी के दो रूप होते हैं—एकस्थायी और दूसरा अस्थायी स्थायी रूप शिक्षालय के संग्रहालय होता है, जिसमें बालकों द्वारा निर्मित सामग्री का प्रदर्शन भी होता है और शैक्षणिक उपयोगिता रखनेवाली चयन की गई सामग्री का संग्रह भी होता है। अस्थायी प्रदर्शनी शिक्षालय के विशेष अवसरों पर आयोजित की जाती है जिससे दर्शकों को वहाँ की प्रगति का परिचय प्राप्त हो सके। शैक्षणिक मेले भी इसके लिए अच्छे अवसर हैं।

इसी प्रकार शिक्षा की प्रदर्शनी के भी दो भाग होना चाहिए। एक में शिक्षा के सिद्धान्त, उद्देश्य और उसकी पूर्त्ति न करने के साधन और पद्धतियों का प्रदर्शन हो। भिन्न-भिन्न प्रयोगों और उनके परिणामों से परिचित कराए जाएँ। दूसरे भागों में शिक्षा के परिणामस्वरूप निर्मित सामग्री का प्रदर्शन हो सकता है। इस अंग में ललित कलाएँ और उपयोगी कलाएँ, उद्योग, साहित्य, सामाजिक जीवन, सामान्य विज्ञान आदि से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री का प्रदर्शन हो सकता है। इसी प्रकार नई तालीम प्रदर्शनी में नई तालीम के सिद्धान्त, प्रणाली और पद्धति अनुकूल प्रदर्शन होना चाहिए। चूँकि बुनियादी शिक्षा का प्रचार और प्रसार नवीनतम है इसलिए प्रदर्शनी में निम्नलिखित अंगों का समावेश जनशिक्षण का भी कार्य कर सकेगा :—

(१) नई तालीम के सिद्धान्तों का परिचय (चार्ट के रूप में)

(२) पद्धति—चार्ट, समवायी पाठ, योजनाएँ, शिक्षा के साधन आदि। इनसे यह पता चल सकेगा कि शिक्षा देने की पद्धति क्या है।

(३) काम का प्रदर्शन—काम के नमूने, काम का हिसाब, समय, लागत, उत्पादन और उसके द्वारा स्वावलम्बन आदि।

(४) शाला-व्यवस्था संगठन—शाला की व्यवस्था, संगठन, कार्य-विभाजन, पाठशाला का स्वरूप—उसका आर्थिक, सामाजिक, व सांस्कृतिक परिचय। शिक्षालय का समाज-सम्पर्क आदि प्रदर्शन के उपयोगी विषय होंगे।

(५) बुनियादी शिक्षा का ऐतिहासिक परिचय उसका प्रचार और प्रसार भी एक अंग हो सकता है। कभी-कभी शाला और समाज द्वारा मिश्रित प्रदर्शनी, विशेषकर शैक्षणिक मेले के

अवसर पर, बड़ी ही उपयोगी होती है। स्थानीय उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है। शिक्षालय की हस्त-उद्योग द्वारा उपयोगिता सिद्ध करने का अवसर मिलता है। बालकों और पालकों के सामूहिक प्रयत्न द्वारा उनको समीप आने का अवसर प्राप्त होता है। बुनियादी शिक्षा संस्था अपने वास्तविक रूप में भारतीय संस्कृति के अनुरूप एक आदर्श समाज या ग्राम का प्रतिरूप है। अतः उसको निकटवर्त्ती ग्रामों के लिए उत्प्रेरणा का एक उत्तम साधन होना चाहिए। इस प्रकार प्रदर्शनी को संस्था के भीतर और बाहर विभिन्न दिशाओं में किए गए कार्यों का एक सजीव चित्र प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उस शिक्षालय की प्रगति का अध्ययन किया जा सके। प्रदर्शनी का निम्नलिखित शैक्षणिक महत्त्व है:—

(१) कार्य का परिचय मिलता है, प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता है, कार्य करने की प्रेरणा मिलती है और काम का सही चित्र सामने आता है।

(२) कार्य-कुशलता बढ़ती है और आत्म विश्वास की भावना जाग्रत होती है।

(३) प्रत्येक संस्था को अपनी विशेषताएँ प्रदर्शित करने तथा तुलनात्मक प्रगति को आँकने का अवसर मिलता है।

(४) आयोजन में सामूहिक प्रयत्न से अपने मन का भाव और आत्मीयता उत्पन्न होती है।

(५) सृजनात्मक प्रवृत्तियों के विकास का अवसर मिलता है जिससे सौन्दर्योपासना तथा आनन्द की अनुभूति का अवसर मिलता है।

(६) शिक्षा की कार्य-प्रणाली का परिचय और उसके व्यावहारिक प्रयोग को प्रत्यक्ष देखने का अवसर मिलता है, जिससे अनेक भ्रमों और शंकाओं का समाधान होकर योजना के प्रति स्वस्थ वातावरण बनता है।

(७) संगठन की भावना का उदय होता है।

(८) प्रदर्शित चित्र, चार्ट, ग्राफ, अभिलेख, प्रगति-विवरण तथा

प्रयोग-परिचय ज्ञानार्जन के साधन के साथ बुनियादी शिक्षा साहित्य-सृजन के लिए भी एक उपयोगी साधन है।

(६) कला, और उद्योग के पुनरुत्थान और प्रोत्साहन का साधन है। प्रदर्शनी की सजावट में सरलता, सुन्दरता और उपयोगिता तीनों ही बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रदर्शित सामग्री का परिचय और बोध कराने की उचित व्यवस्था की व्यवस्था की आवश्यकता है। दर्शकों को देखने की व्यवस्था सुविधा के साथ बर्ताव भी अच्छा होना चाहिए, जिससे कार्य व व्यवहार दोनों का ही परिचय मिले। शाला के कार्यों व प्रवृत्तियों का चित्रमय दर्शन हो जिससे दर्शक प्रभावित हों और शाला के लिए उनके हृदय में स्थान बन जाय। कभी-कभी कार्यों का प्रत्यक्ष प्रदर्शन सीखने-सिखाने का उत्तम साधन बन जाता है। प्रदर्शनी में वस्तुओं की भी भरमार नहीं करना चाहिए। एक एक ही प्रकार की वस्तुओं में से चयन की गई वस्तुएँ उत्तम ढंग से प्रदर्शित की जाने पर अच्छा प्रभाव रखती हैं। इसी प्रकार चार्टों में भी अनेक रंगों का प्रयोग आकर्षण न लाकर प्रदर्शित वस्तुओं को उपेक्षणीय बना देता है। चार्ट और चित्र भी इस प्रकार के रंगों के माउण्ट पर नहीं लगाना चाहिए। एक प्रकार की वस्तुएं एक-एक विभाग में ही प्रदर्शित की जाना उत्तम है। वस्तुओं पर बनानेवाले का नाम और उद्योग की वस्तुओं पर लागत, समय और उसका मूल्य भी दिया जाय तो अच्छा है। हस्तकला की सामग्री के प्रदर्शन के साथ यदि एक विभाग ऐसा भी आयोजित हो, जिसमें यह प्रदर्शित किया जाय कि अमुक वस्तु के निर्माण द्वारा इन विभिन्न विषयों का ज्ञान दिया जा सकता है तो एक प्रत्यक्ष पाठ का काम देगा।

प्रदर्शित करनेवालों को प्रेरणा के साथ यह भी आवश्यक है कि दर्शक भी ध्यानपूर्वक प्रदर्शनी को देखें। प्रायः यह देखा गया है कि दर्शक शोभा, सजावट और भीड़-भाड़ का आनन्द लेकर ही चले जाते हैं। प्रदर्शित सामग्री को देखना गौण ही रह जाता है और वह उनके आकर्षण का विषय भी नहीं रहता है। इसलिए इस प्रकार के तरीकों को भी अपनाना पड़ेगा जिससे दर्शक

उस ओर आकर्षित हों। लेखक का स्वयं का अनुभव है कि एक बार एक बड़े विद्यालय में मातृ-दिवस का आयोजन किया गया। योजना यह थी कि बालक अपनी रुचि के अनुसार वस्तुओं का निर्माण करें। और उत्तम वस्तुओं को वे अपनी माताओं को भेंट करें। वस्तु के साथ बनानेवाले के समर्पण को लगाकर इन वस्तुओं की प्रदर्शिनी की गई। यह देखा गया कि एक माता अपने पुत्र द्वारा निर्मित वस्तुओं की खोज में सब वस्तुओं को ध्यानपूर्वक देखती थी। इस प्रकार की अनेक योजनाएँ बनाई जा सकती हैं।

इस साधन का उपयोग वर्ष में कई बार विशेष अवसरों पर किया जाना चाहिए जिससे आगे प्रगति को प्रेरणा मिले।

शिक्षा को स्वानुभव द्वारा आत्मा के पहचानने की साधना बताया गया है। आत्मा का स्वभाव है प्रकाश में आना। अतः आत्मिक गुणों का प्रकाश या प्रदर्शन भी इसी उद्देश्य के अन्तर्गत आता है। शिक्षा के दो काम हैं—एक ज्ञान की प्राप्ति और उसका संचयन तथा दूसरा प्राप्त ज्ञान का प्रकाश जिसे भावव्यंजिता अथवा भावाभिव्यक्ति भी कहा जा सकता है। यह मौखिक भी होती है और लिखित भी। भाषा और साहित्य का उद्देश्य भी यही है। भाषा की आवश्यकता और निर्माण भी इसी उद्देश्य को लेकर हुआ। भाव प्रकाशन की सबसे प्राचीन शैली चित्रलिपि रही है। चित्रलिपि, चित्रकला आदि हमारे मस्तिष्क के विचारों, हृदय की भावनाओं और कल्पनाओं को मूर्त्त रूप देती है। यह मस्तिष्क की क्रियाशीलता का प्रत्यक्ष रूप है। दस्तकारी और उद्योग मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति का आश्रय पाकर आत्मा के गुणों के प्रकाशन का साधन बन जाते हैं। इस प्रकाशन तथा प्रदर्शन के अनेक रूपों के समारोहों को प्रदर्शनी कहते हैं।

बुनियादी स्कूल में प्रदर्शनी का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे पाठशाला की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। गौण रूप से यह पाठशाला के कार्य की परीक्षा भी कही जा सकती है। इसके द्वारा पाठशाला की नवीन योजना, व्यवस्था और खोजों का पता चलता है। पाठशाला की शिक्षण-पद्धति को सफल बनाने के लिए भी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। बुनियादी शिक्षा के कार्य-क्षेत्र, पद्धति और उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए प्रचार और प्रसार का कार्य भी होता है।

बालक आत्मगौरव चाहते हैं। वे प्रशंसा के भूखे होते हैं। वे अपनी कृतियों को दूसरों के सामने रखकर और प्रशंसा पाकर ही सन्तोष मानते हैं। आर्थिक पुरस्कार उनके लिए इतने महत्त्व के नहीं है जितनी उनके कार्यों की सराहना। अतः पाठशाला में ऐसे अवसरों का आयोजन अवश्य होना चाहिये जबकि बालकों के कार्यों का प्रदर्शन हो सके। प्रदर्शनी उसका एक उत्तम साधन है। अन्य आनन्दविधायक कार्यक्रम भी इस शिक्षा में काफी योग देते हैं। इस उद्देश्य को लेकर ही पाठशाला को वार्षिकोत्सव, पालक-दिवस अथवा इसी प्रकार के कार्यक्रमों का आयोजन करते रहना चाहिये, जिससे पर्याप्त संख्या में दर्शक, विशेषकर बालकों के पालक, अवश्य ही भाग लें। इससे जनता को बुनियादी पद्धति में विश्वास होगा, पालकों को अपने बच्चों की प्रगति में श्रद्धा होगी और पाठशाला को सहयोग प्राप्त होगा। पालक और बालक दोनों की शिक्षा का क्षेत्र प्रशस्त होगा।

प्रदर्शनी में शिक्षकों और शिक्षार्थियों द्वारा निर्मित चुना हुआ सामान ही रखा जाये। इस सामान के साथ उपयोगी चार्ट आदि भी हो। काम का व्यौरा, काम, की प्रगति तथा काम की पद्धति ग्राफ और चित्रों द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। चित्र द्वारा उन लोगों को भी लाभ होगा है जो साक्षर नहीं हैं, साथही बच्चों के आकर्षण का तो वह मूल आधार ही है। जो बात वे पुस्तक के पृष्ठ पढ़कर समझ सकते हैं, उसे एक अच्छे बने हुए चार्ट से आसानी से समझ जाते हैं।

सामान की व्यवस्था विभागानुसार होनी चाहिये। एक विभाग का सामान उसी विभाग में रखा जाये। बने हुए सामान के यदि और स्पष्ट वर्णन या व्याख्या की आवश्यकता हो तो चार्ट की सहायता ली जावे। चार्ट ऐसे स्थान पर लगाये जायें जहाँ से पढ़कर दर्शक उनका लाभ उठा सकें। इसी प्रकार बनी हुई चीजें भी जहाँ से ठीक-ठीक तरह से देखी और समझी जा सकती हों ऐसी जगह रखी जायें। शिक्षण-पद्धति और बुनियादी साहित्य के समुचित प्रदर्शन और आवश्यक समझायश देनेवालों की व्यवस्था की जाय।

प्रदर्शनी से स्पष्ट हो जाय कि पाठशाला की क्या-क्या प्रवृत्तियाँ हैं और किस पद्धति से काम लेकर क्या प्रगति की जा सकती है और विद्यार्थियों की कार्यशीलता को उनके मानसिक विकास के लिए किस प्रकार काम में लाया जा

रहा है। इसको समझकर काम के द्वारा शिक्षा की योजना में लोगों को विश्वास होगा और इस शिक्षण-पद्धति को लोग उपयोगी समझेंगे।

विद्यार्थियों को भी एक-दूसरे की बनाई हुई चीजों की विशेषता पूरी तरह समझाई जाय। वे कैसे बनाई गई हैं, क्या खर्च पड़ा है, क्या उपयोगिता है, शास्त्रीय आधार क्या है, आर्थिक लाभ क्या है? इस प्रकार सिद्धान्त और व्यवहार का सामंजस्य करके पूरा स्पष्टीकरण होना चाहिए। इस तरह से बच्चों की आँखें खुलती हैं। सूझ बढ़ती है। वे अपनी प्रगति और विकास का मूल्यांकन कर सकते हैं तथा अपनी सृजन शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर पाकर वे सन्तुष्ट और प्रसन्न होते हैं।

प्रदर्शनी के स्थान की रचना भी सुरम्य और आकर्षक की जानी चाहिए। स्वच्छता और सजावट का पूरा ध्यान रखा जाय। स्थान इतना हो कि प्रदर्शित वस्तुएँ दर्शकों द्वारा भली-भाँति देखी जा सकें। जहाँ चीजों को दिखाने और समझाने की आवश्यकता हो वहाँ विद्यार्थियों को पूर्व तैयारी द्वारा इस कार्य की शिक्षा दी जाय। प्रदर्शनी की रचना जितनी आवश्यक है उतनी ही उसकी व्यवस्था भी। दर्शकों के आने-जाने की यथोचित व्यवस्था की जाय। उनके साथ बर्ताव भी अच्छा हो, जिससे पाठशाला के कार्य और व्यवहार दोनों की उनपर छाप पड़े। पाठशाला के सारे जीवन का प्रदर्शनी में चित्रमय दर्शन हो जिससे दर्शक लाभान्वित होकर प्रभावित भी हों और पाठशाला उनके हृदय में स्थायी घर कर ले। पाठशाला में प्रौढ़ों को न लाकर पाठशाला को प्रौढ़ों के पास ले जाने का यह सुगम साधन है।

स्वयं लेखक का अनुभव है कि विद्यार्थी इस प्रकार के आयोजनों में अथक प्रयत्न करते हैं। मुझे स्मरण है कि मध्यभारत की एक बड़ी माध्यमिक पाठशाला में इस उद्देश्य को लेकर कि बालकों की सृजनात्मक शक्ति के विकास के लिए पाठशाला में कार्यक्रम बनाया जाय, एक योजना रखी गई थी कि प्रत्येक विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार कुछ-न-कुछ बनाये। पाठशाला के भिन्न-भिन्न विभाग इस प्रकार रुचि के आधार पर बने हुए ग्रुपों का संचालन करें व उनकी तैयारी में सहायता दें। बनाये हुए सामान में से प्रत्येक विद्यार्थी अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति अपनी माता को भेंट करेगा; क्योंकि माता ही सर्वप्रथम गुरू है। इस योजना का नाम "मातृ-दिवस" था। इस दिन विद्यार्थियों की सब माताओं को आमन्त्रित किया गया था बालकों की भेंट की जानेवाली कृतियों की

एक विशाल और सुन्दर प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। इस आयोजन में कितनी भावना और आत्मभाव था इसका अनुमान तो दर्शकों और अपने बच्चों की कृतियों को देखकर गौरव अनुभव करनेवाली माताओं का हृदय ही कर सकता था। क्या माताओं ने कभी और भी इस प्रकार सामूहिक रूप से अपने बच्चों के कार्यों को देखकर पाठशाला की प्रगति का प्रत्यक्ष दर्शन कर सन्तोष का अनुभव किया होगा ?

ऐसे अनेक अवसरों की योजना और उनसे लाभ उठाने का कार्य एक अनुभवी और उत्साही शिक्षक के प्रतिभावान् मस्तिष्क की सूझ हो सकती है। पाठशाला के पर्व, उत्सव, त्यौहार और समारोह ऐसे अनेक अवसर प्रदान करते हैं।

उत्सव और त्योहारों का आयोजन

शिक्षा में समाजीकरण से इन आयोजनों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। रूढ़िगत शालाएँ जबकि अवकाश पाकर इन दिनों बन्द रहा करती थीं बुनियादी विद्यालयों में ये दिन बड़ी ही चहल-पहल के होते हैं। इन उपयोगी दिनों को सामाजिक शिक्षण का एक उत्तम साधन माना जाकर इनका अधिक-से-अधिक उपयोग किया जाने की मनोवृत्ति बढ़ रही है। इन साधनों का लाभ बालकों और पालकों, घर और पाठशाला के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी किया जाता है। ये वे मनोवैज्ञानिक क्षण हैं जिनमें सामाजिक अध्ययन उनके प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित होकर सरल ग्राह्य होता है।
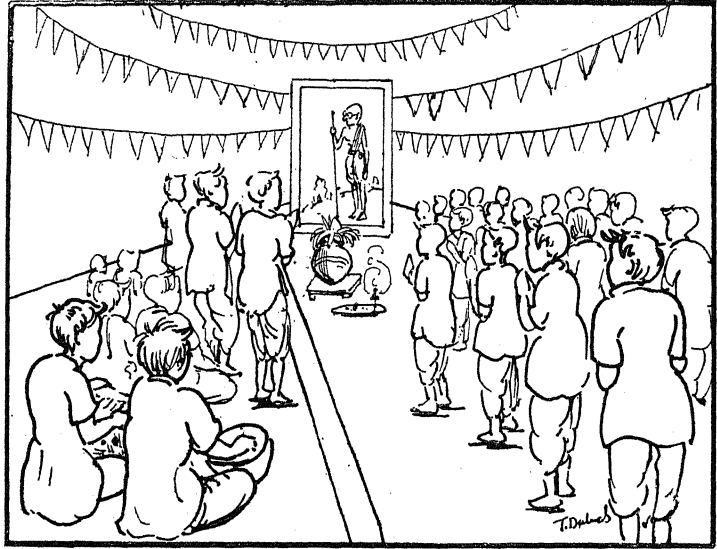
जयन्ती-समारोह

सामाजिक अध्ययन का एक उत्तम साधन है।

सृजनात्मक और रंजनात्मक व सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के प्रकाशन का अवसर प्राप्त होता है। लगातार काम करते रहने की एकतानता कम होकर उत्साह

एवं स्फूर्ति का पुनरुत्थान होता है जिससे शाला का कार्यक्रम अधिक रुचिकर और आनन्ददायक सिद्ध होता है।

त्योहार और उत्सव एक जीवित समाज के जीवन को प्रदर्शित करते हैं। उनके ओज, उमंग और उत्साह को इन्हीं के द्वारा अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। इन्हीं आयोजनों द्वारा उनके सांस्कृतिक स्तरका परिचय, प्राप्त होगा। मनुष्य स्वभावतः अपनी विशेषताओं और गुणों के प्रकाशन से आत्मगौरव की भावना की तुष्टि करता है। इन आयोजनों में साहित्य, कला, संस्कृति के प्रदर्शन और अध्ययन का अच्छा अवसर मिलता है। अपने आयोजनों को सफल बनाने में विद्यार्थियों को सउद्देश्य अध्ययन करते देखा गया है। कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि इतनी अधिक पुस्तकालय की पुस्तकों का अध्ययन कभी

सांस्कृतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण नृत्य

यह आनन्द से उद्वलित हृदय की अभिव्यक्त है, कला जीवन को सरस बनाती है।

नहीं किया जाता जितना किसी सांस्कृतिक आयोजनों को सफल बनाने की धुन में किया जाता है।

उत्सवों को नीचे लिखी श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) धार्मिक पर्व, (२) राष्ट्रीय जयन्तियाँ, (३) राजनैतिक त्योहार,

(४) सामाजिक जयन्तियाँ (भिन्न-भिन्न धर्मों के महापुरुषों के जन्म दिवस), (५) सांस्कृतिक जयन्तियाँ और उत्सव, (६) पाठशाला के विशेष उत्सव-वार्षिकोत्सव, पालक दिवस आदि ।

इन त्योहारों, पर्वों और उत्सवों का उपयोग बालकों की शिक्षा के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है, यह समवाय पद्धति की विषयवार कक्षावार योजना में इन आनन्द व विधायक कार्यक्रमों द्वारा बालक पाठशाला में घरका-सा आभास पाते हैं और समाजिक जीवन में घुल-मिलकर एक दूसरे के अधिक निकट आते हैं। एक ही कार्य की सफलता के लिए सब सामूहिक रूपसे तन्मय होकर काम करते हैं। इस प्रकार उनके एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आने से उनमें प्रेम और सहयोग से काम करने की भावना का उदय होता है। योजना बनाना, कार्य संचालन करना, आवश्यक सामान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना, सामान को सम्हाल कर रखना, दिये हुए कामको पूरा करने का उत्तरदायित्व अनुभव करना, काम को पूरा करने में धैर्य व साहस से काम लेना, आमंत्रित लोगों का स्वागत-सत्कार, व्यावहारिक शिष्टाचार, कार्यक्रम बनाने की योग्यता, उसका सुरुचिपूर्ण चयन आदि अनेक सद्गुण अपने आप उत्पन्न होते हैं।

लेखक का स्वयं का अनुभव है कि जो बालक कभी काम नहीं करते हैं और जिन्हें आलसियों की श्रेणियों में ढकेल दिया जाता है वे भी ऐसी योजनाओं से अनुप्राणित होकर बड़े चैतन्य और काम करनेवाले बन जाते हैं उत्सवों के विषाल आयोजनों में मैंने बालकों को उत्साहपूर्ण महारथियों की भाँति काम करते देखा है। जो कभी पुस्तकें नहीं पढ़ते हैं, वे एकांकी, प्रहसन व ड्रामा, डायलाग, मुखाग्र पाठ आदि की योजनाओं के लिए ढेर-की-ढेर पुस्तकों का अध्ययन करते दिखाई देते हैं। एक पालक-दिवस के आयोजन का मुझे स्मरण है बालकों ने स्वयं भिन्न-भिन्न प्रकार की सुरुचिपूर्ण एवं सुस्वादु वस्तुओं की तैयारी कर पालकों को प्रीतिभोज देकर अपनी व्यवस्था की दक्षता से मुग्ध कर दिया था। इस प्रीतिभोज के स्वतन्त्र आयोजन में स्वाभाविक रूप से शिक्षा के कितने अंगों का समावेश हो सका होगा, यह शिक्षा प्रेमियों के लिए विचारने की वस्तु है।

प्रदर्शनियाँ भी इन अवसरों का अंग हो सकती हैं और पाठशाला की बहुमुखी प्रति के प्रकाशन में योग दे सकती हैं।

शारीरिक, साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का भी कार्य-क्रम में भिन्न-भिन्न रूप से समावेश किया जा सकता है। ट्रेनिंग केन्द्रों पर तो भिन्न-भिन्न मण्डलों से आये हुए छात्राध्यापकों की मासिक उत्सव की योजना द्वारा पूरे प्रान्त की संस्कृति के अध्ययन का अवसर मिल जाता है।
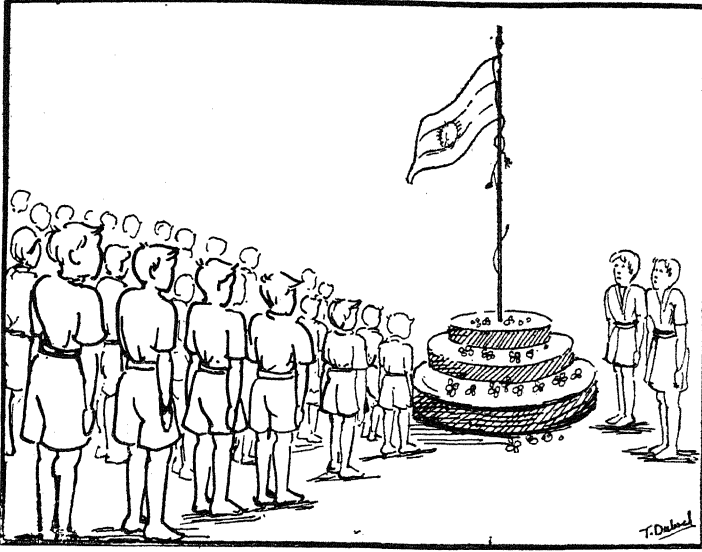
ध्वाजारोहण (राष्ट्रीय-पर्व)
(इन पर्वों का आयोजन राष्ट्रीयता का पोषक है)

यह ध्यान रखना अवश्य आवश्यक है कि उत्सव की तैयारी पर्व और त्योहार ही के अनुरूप हो। जिस समय जिन बातों के समावेश की आवश्यकता हो केवल उन्हीं को समाविष्ट किया जाय। अनावश्यक भरमार से भी कार्यक्रम में दोष आजाता है

आज-कल त्योहारों पर अकारण ही बहुत बड़ी धनराशि व्यर्थ के कार्यों में व्यय करने की प्रथा ही हो चुकी है। इस धन से बहुत से निर्माणकारी तथा समाज-सेवा के कामों का कार्यक्रम में समावेश किया जा सकता है। इससे राष्ट्र-सम्पत्ति की वद्धि भी होगी।

लेखक का स्वयं का सेवा ग्राम का एक अनुभव है कि राष्ट्र पिता बापू के वार्षिक श्राद्ध की योजना में रूई इकट्ठी करने की क्रिया से लेकर कपड़े बनाने की क्रिया तक का समावेश कार्यक्रम में करने से १२ ही दिन में कपड़ों के थान-के-थान इकट्ठे हो जाते हैं। साथ ही विशेष प्रार्थना, प्रवचन, भजन कीर्तन और अन्य आनन्दविधायक कार्यक्रमों से पर्याप्त मनोरंजन भी होता रहता है। इस प्रकार त्योहार मनाने की यह पद्धति शैक्षणिक और सामाजिक उपयोग रखती है।

बुनियादी शिक्षालय और धार्मिक शिक्षा

बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य नया मानव और उसके द्वारा नया समाज बनाना है। समाज के संगठन और विगठन में धर्म का एक महत्त्वपूर्ण हाथ रहता आया है। कहीं धर्म की विशालता न केवल मानवता की पूजा मात्र तक ही सीमित है वरन् उसकी व्यापक भावना द्वारा समस्त चराचर को भी उसमें आबद्ध कर उपासना के क्षेत्र को विस्तीर्ण कर लिया है। इसके विपरीत कहीं धार्मिक संकुचितता ने मानव से मानव को न केवल दूर करने का; अपितु उसे दानवके रूप में परिवर्तित कर मानवता का अभिशाप बना दिया है। क्या पाश्चात्य और पौर्वात्य इतिहास के पृष्ठ पलटने से इस ऐतिहासिक तथ्य की स्पष्टता सिद्ध होगी कि सामाजिक उन्नति अथवा अवनति में धर्म का बड़ा प्रभाव रहा है। भारतवर्ष में विशेषकर धर्म का प्रश्न एक राष्ट्रीय महत्त्व का प्रश्न है। दुनियाँ के अनेक धर्म इस भूमि पर आकर रहे हैं। अतएव राष्ट्रीय संगठन को यह नितान्त आवश्यक है कि सभी धर्म मिलकर एक विशाल धर्म कुटुम्ब बने। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए समस्त धर्मावलम्बियों में धार्मिक सहिष्णुता वांछनीय है।

भारत की प्राचीन परम्परा में शिक्षा और धर्म का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। धार्मिक गुरू ही शिक्षा-गुरू रहते थे। उनके पवित्र आश्रम ही शिक्षा-मन्दिर थे। धर्म का व्यावहारिक जीवन से कोई पृथक् अस्तित्व नहीं था। जीवन की प्रत्येक प्रवृतियाँ धार्मिक नियमों के आधार पर ही संचालित होती थी। पूरे सामाजिक जीवन में धर्म ओत-प्रोत था। धर्म जो प्रत्यक्ष जीवन में व्यापक रूप न ले वह धर्म ही क्या है? धर्म और जीवन के क्षेत्र पृथक् नहीं हो सकते हैं। धर्म की प्रक्रियाओं को एक स्थानविशेष और समयविशेष से बाँध देने में क्या इस सीमा से बाहर अधर्मी के रहने की छूट दी जा सकती है? इसलिए धर्म को संकुचित सीमा में न बाँधा जाकर उसका विस्तार मानवीय धर्म तक कर देना आज के समाज-संगठन को श्रेयस्कर है। आज की दुनियाँ बहुत बड़ी होकर भी भी आवागमन के साधनों की सुविधा के कारण बहुत छोटी हो गई है।

एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों के तथा एक धर्म दूसरे धर्म के लोगों के निकट सम्पर्क में आ रहे हैं। इसलिए आज की दुनियाँ में धार्मिक सहिष्णुता के बिना सामाजिक संगठन संभव ही नहीं है। यह सब तब ही संभव है जब सब धर्मों का गहन अध्ययन किया जाय और उनके उज्ज्वल स्वरूप को सामने रखकर धर्म-समन्वय का वातावरण बने।

लोगों का यह भ्रम हैं कि इस धर्म निरपेक्ष राज्य में बुनियादी शिक्षा पूर्णतया अधार्मिक है और इसकी योजना में धर्म का कोई स्थान नहीं हैं। वास्तव में इस शिक्षा में धार्मिक शिक्षा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। किन्तु इस योजना
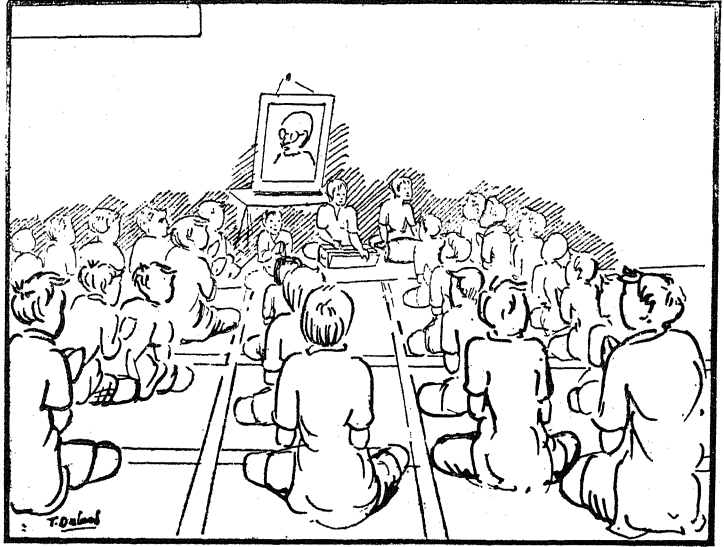
सामूहिक प्रार्थना

("सर्वधर्मी समानत्त्व" की भावना द्वारा धार्मिक सहिष्णुता का उदय करती है)

के मूलभूत सिद्धान्तों में संसार के सभी धर्मों के तत्त्व सन्निहित हैं। जीवनोनुकूल कार्यों तथा व्यापारों को ही सहयोगी जीवन द्वारा समुचित और संतुलित विकास के लिए समग्र शिक्षा का साधन माना गया है। सत्य, अहिंसा, प्रेम और सहयोग ही उसकी आधारभूमि है। ऐसी दशा में मानवीय धर्म की ही आराधना और उपासना संभव है। यह स्वाभाविक रूप से ही धार्मिक सहिष्णुता की ओर प्रवृत्त होने के अधिक-से-अधिक अवसर देगी।

बुनियादी शिक्षा किसी धर्मविशेष की औपचारिक रूप में चाहे शिक्षा न देती हो परन्तु प्रायोगिक रूप में धर्म व नीति के आचरण द्वारा उनके चरित्र और संस्कारों का निर्माण अवश्य होता है। बुनियादी शिक्षा के मूल प्रवर्त्तक महात्मा गाँधी के इस विषय में विचार थे कि बुनियादी शिक्षा योजना में धर्म को इसलिए स्थान नहीं दिया गया है कि आज तक जिस तरह धर्म की शिक्षा दी जाती है उसमें एकता के बजाय झगड़ा ही होता है। किन्तु यह मेरा पक्का मत है कि वे तत्त्व जो सब ही धर्मों से समान हैं, हर एक बच्चे को सिखलाये जाना चाहिए। ये तत्त्व शब्द या पुस्तकों द्वारा ही सिखलाये जा सकते हैं। यह तत्त्व बच्चे अपने गुरू के दैनिक जीवन द्वारा ही सीख सकते हैं। अगर शिक्षक स्वयं सत्य और न्याय के आधार पर अपना बसर करता है, तो बच्चा यह आसानी से सीख सकेगा कि सत्य और न्याय सब ही धर्मों के आधार हैं। यह बात कि सब ही धर्मों के मूल तत्त्व एक ही हैं और इसलिए हमको एक दूसरे के धर्म के लिए आदर और प्रेम होना चाहिए एक बहुत स्पष्ट सत्य है। लेकिन असल बात तो यह है कि शिक्षक को स्वयं को यह श्रद्धा रखनी चाहिए।

इसी प्रकार का मत आचार्य विनोबा का भी है। उनका कथन है कि चारित्रिक निष्ठा, ईश्वरपर श्रद्धा और शरीर से भिन्न आत्मा का यही धर्म का सार है और यह सत्पुरुषों की संगति से ही मिलता है। इसलिए शीलवान् शिक्षकों की योजना ही धार्मिक शिक्षा की हीं योजना है। संतों के वचनों का चुनाव करते समय भी व्यापक विवेक की जरूरत होगी। धर्म-शिक्षा में सब धर्मों का सार बताना चाहिए। बौद्धिक धर्म का ज्ञान ही विस्तार से देना चाहिए; लेकिन दूसरे धर्मों की शिक्षा भी दी जाय। हृदय-शुद्धि, आत्मा की अमरता, परमेश्वर की सर्व-व्यापकता, कर्म का परिणाम ये सारी बातें प्रायः सब धर्म-ग्रन्थों में हैं। यह सारे परमात्मा के भक्त हैं। ये जो भिन्न-भिन्न राहें दिखाई पड़ती हैं, उनमें समानता का अंश बहुत है। धर्म-शिक्षण से अभिमान और संकुचित भावना के स्थान पर विद्यार्थी को नम्र और निष्ठावान् बनना चाहिए।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की धारणा थी कि धर्म-शिक्षा के लिए आश्रम ही हो सकता है, जहाँ मनुष्य की धर्म-साधना प्रत्यक्ष हो उठती है और जहाँ सब कर्म ही धर्म के अंगरूप से अनुष्ठित होता है। इस देश में एक समय यह काम तपोवनों का था। वहाँ साधना और शिक्षा एकत्र मिली होती थी, धर्म-शिक्षा के

लिए ऐसे ही आश्रमों की आवश्यकता है, जहाँ विश्वप्र-कृति के साथ मानव-जीवन के सहयोग में कोई व्यवधान नहीं है, जहाँ तरु-लता और पशु-पक्षियों के साथ मनुष्य का आत्मीय सम्बन्ध स्वाभाविक है, जहाँ भोग का आकर्षण और उपकरणों की बहुलता से मनुष्य का चित्त क्षुब्ध नहीं होता, जहाँ साधना केवल ध्यान में ही नहीं है वरन् त्यागपूर्ण मंगल कार्यों में निहित है, जहाँ संकीर्ण देश, काल और पात्र-भेद से कर्त्तव्य-बुद्धि खण्डित नहीं होती, जहाँ विश्व-कल्याण का आदर्श प्रतिष्ठित है, जहाँ पारस्परिक व्यवहार में श्रद्धा, ज्ञान-चर्चा, उदारता और महापुरुषों के भेदभाव-रहित पुण्य स्मरण से भक्ति की साधना द्वारा मन सरल और सरस होता है। इस प्रकार की धर्म साधना जहाँ समाज में व्याप्त है वहाँ ही धर्म की शिक्षा स्वाभाविक है। शिक्षालयों का वातावरण जब ऐसा हो तब धार्मिक साधना को अनुकूलता मिलती है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि समाज में सुख शान्ति की स्थापना के लिए धार्मिक शिक्षा एक आवश्यक अंग है। सामाजिक शान्ति के लिए अभाव और दरिद्रता तो सुख का कारण हो ही नहीं सकते किन्तु केवल भौतिक समृद्धि भी सुख और शान्ति के लिए अपर्याप्त है। भौतिक सम्पन्नता के अन्त:स्थल में भी युद्ध विभीषिका छिपी रहती है। इसलिए जितना आधिभौतिक विकास आवश्यक है उतना ही नैतिक और आध्यात्मिक भी। बुनियादी शिक्षा को धर्म निरपेक्ष कहकर उसमें धर्मशून्यता का आक्षेप किया जाता है; किन्तु जिस शिक्षा का ध्येय समग्र और संकीर्ण विकास हो उसमें नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा का अभाव कैसे हो सकता है? यह तो हमारे राष्ट्रीय जीवन के पुनरुद्धार की योजना है। वास्तव में धर्म के विषय में सब से बड़ी गलती यह हुई है कि उसे नित्य नैमित्तिक जीवन से पृथक् मान लिया गया है। होना यह चाहिये कि धर्म हमारे नित्य प्रति के काम-काज, व्यवहार और आचरण में अभिव्यक्त हो। धर्म का यही काम है कि वह व्यक्ति, और समाज के बीच सामंजस्य स्थापित करे। धर्म वही है जिससे व्यक्ति नि:स्वार्थ समाज-सेवा में रत रहे और यह समझे कि समाज के विकास में ही मेरा हित है और समाज का यह प्रयत्न हो कि उस समाज की प्रत्येक व्यक्ति विकास कर उन्नत बने इसी में समाज का हित है। इसलिए धर्म-शिक्षा वशिक्षामय धर्म व्यक्ति और समष्टि में समन्वय स्थापित करते हैं। यही सर्वोदय के विचार की नवीनतम कल्पना है। आज के प्रगतिशील भौतिकवादी वैज्ञानिक युग में उसकी संहार-

शक्ति पर रोक-थाम लगाने में यही सर्वोदयी भावना वरदान है जो भौतिकवादी और आध्यात्मिकवादी विचारधाराओं का संतुलन करेगी। यही युग-धर्म है। इसी सर्वोदयी भावना को बुनियादी शिक्षा में धार्मिक-शिक्षा के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। इसके द्वारा व्यक्ति को बदलकर बाद में समाज को बदलने का उपक्रम है क्योंकि समष्टि को बदलने का साधन तो व्यक्ति ही है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की क्रियाएँ धर्ममय और धर्म शिक्षामय होना चाहिये।

इस प्रकार के धर्माचरण के लिए स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बन आवश्यक है, जिससे एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर अनावश्यक दबाव न हो। इसके लिए समाज में दबनेवाले तथा दबानेवाले का वर्ग-भेद समाप्त कर समानता लाना होगी। यह तब ही सम्भव है जब हमारी आवश्यकताएँ सीमित और मर्यादित हों और उनकी पूर्त्ति में अधिक-से-अधिक स्वतन्त्र स्वावलम्बन हो। बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रम में स्वावलम्बन को चाहे कोई केवल आर्थिक दृष्टिकोण मात्र से ही क्यों न देखे पर स्वावलम्बन का अन्तिम लक्ष तो आत्मोन्नति ही है और यही सब से बड़ी आध्यात्मिक या धार्मिक शिक्षा है।

बुनियादी शिक्षा में विद्यार्थी को आचरण द्वारा अपने कर्म और व्यवहार का परिणाम निकालने का अवसर प्राप्त होता है जिससे समाज के प्रति उसके कर्म की उपयोगिता और अनुकूलता का बोध होता है और उसके प्रति, समाज की प्रतिक्रिया द्वारा समाज द्वारा मान्यता अथवा अमान्यता की छाप लगा दी जाती है इसी को व्यक्तिगत कर्त्तव्य अथवा सामाजिक धर्म भी कहते हैं। शिक्षालय के सामाजीकरण द्वारा बुनियादी शिक्षा-योजना में इस प्रकार की शिक्षा की पर्याप्त सम्भावनाएँ भरी पड़ी हैं। इस तरह उसका प्रत्येक कर्म ज्ञानमय और ज्ञान कर्ममय होता जाता है। यही व्यावहारिक धर्मका रूप है।

इसी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के साथ अब यह विचार करना है कि बुनियादी शिक्षालयों में इसका क्या रूप हो:—

(१) दैनिक सामूहिक प्रार्थनाओं का आयोजन हो जिसमें सब धर्मावलम्वी समानता से भाग ले सके। उचित अवसरों पर विभिन्न धर्मों की प्रार्थनाओं का समावेश हो। अच्छा हो यदि अवसर पाकर बालकों को उनके अर्थ से भी परिचित करा दिया जाय। उत्तम तत्वों का परिचय प्राप्त कर बालकों में धार्मिक सहिष्णुता का उदय होगा।

(२) धार्मिक पर्वों और त्योहारों पर धर्म-स्थापकों, साधुसन्तों तथा महापुरुषों की जीवनियों तथा कार्यों से परिचत कराया जाय। सामूहिक रूप से इन त्योहारों का आयोजन करने से संस्कृतियों का आदान-प्रदान होकर समन्यवय द्वारा मानव संस्कृति का एक नवीन आदर्श उपस्थित होगा।

(३) यह ध्यान रखना आवश्यक है कि एक दूसरे धर्म के की अनावश्यक तुलना के विवाद में न पड़ा जाय। प्राय: शिक्षक अपने ही धर्म की तराजू पर दूसरे धर्म को तोलकर अपने धर्म को श्रेष्ठ बताने का पयत्न करते हैं, जिससे सहिष्णुता के स्थान पर भेद-भाव ही बढ़ता है। परिचय कराना अच्छा है। किन्तु गम्भीर दार्शनिक विवेचन में न पड़कर सरल ग्राह्य प्रसंगों एवं कहानियों द्वारा ही यह कार्य किया जाय तो उपयोगी सिद्ध होगा।

(४) भिन्न-भिन्न देश और धर्म के महापुरुषों एवं धर्मवीरों के जीवन से परिचित कराया जाय, जिन्होंने भिन्न-भिन्न युगों में संस्कृति और मानवता को उठाने का प्रयत्न किया है। स्वभाव से ही वीर-पूजक बालक उनमें से अपने मनोनीत वीरों और उनके कार्यों के लिए अपने हृदय में श्रद्धा का स्थान बना लेते हैं जो उनके जीवन-संचालन में आदर्श और प्रेरणा का काम देते हैं।

(५) शिक्षकों के हृदय में सारे संसार के आध्यात्मिक नेताओं और महापुरुषों के प्रति महान् श्रद्धा और सत्य से प्रेम हो। उनको स्वतन्त्र मस्तिस्क से सत्य को पहचानने, परखने और निष्पक्ष भाव से आदर करने की योग्यता हो। उनका विश्वास होना चाहिये कि धर्म इसी सत्य की खोज के अनेक मार्ग हैं।

(६) धार्मिक एंव नैतिक शिक्षा का स्तर बालक की आवश्यकतानुसार उसकी समझ के तथा उसके अनुभवों के अनुकूल हो जिससे परमात्मा के प्रति उसकी बढ़ती हुई धारणा और विकसित आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति उसकी निष्ठा दृढ़ हो सके और उसका आचरण में भी अभ्यास कर सके।

(७) धार्मिक प्रेरणा से जब कोई मनुष्य सत्कार्य या परोपकार करे तो उसमें गर्व नहीं आना चाहिये। समाज के प्रति उसको अपना कर्त्तव्य ही मान कर यह सब कार्य करना चाहिये क्योंकि समाज की उन्नति में ही उसका भी स्वार्थ निहित है। उन्नत समाज में ही उसका विकास हो सकता है। बुनियादी शिक्षा के सामाजिक जीवन के प्रत्येक कार्यक्रम में इस प्रकार की विनय और वृत्तियों की उदात्तता होना चाहिये।

इस प्रकार धर्म दैनिक व्यवहार के अभ्यास की वस्तु है। यदि ठीक तरह से धार्मिक शिक्षा का वातावरण आयोजित किया जा सके तो बालकों में सहिष्णुता, बन्धुत्व, उदारता, प्रेम और सहानुभूति के भाव जाग्रत होकर विभिन्नता में एकता की भावना द्वारा एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हो सकेगी जो मानव में ईश्वर के पितृत्त्व व मानव के भ्रातृत्त्व की भावना का उदय करेगी और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में दृढ़ता आ सकेगी।

वार्षिक कार्य-योजना

किसी भी कार्य की सफलता के लिए आवश्यक है कि उस कार्य की विस्तृत योजना बनाई जाय। कार्य का स्पष्ट लक्ष निर्धारित किया जाय। प्रत्येक कार्य की गतिविधि लक्ष्य की पूर्ति की ओर प्रवाहित हो जिससे कार्यकर्त्ताओं में यह विश्वास पुष्ट हो कि वह अपने उद्देश्य पूर्ति की ओर अग्रसर होकर प्रगति कर रहे हैं। लक्ष्यों की पूर्ति किन अंशों तक हो रही है यही प्रगति के मूल्यांकन का मापदण्ड होगा।

बुनियादी शिक्षा जीवन के लिए और जीवन द्वारा दी जानेवाली शिक्षा है। इसलिए जीवन के विभिन्न क्रियाकलापों से जीवनोपयोगी ज्ञान का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया जाना इस शिक्षा की पद्धति है। इसी को योजना की शास्त्रीय भाषा में समवाय कहा गया है। इस प्रकार के क्रियाकलाप और उनसे सम्बन्धित क्रियाशीलन हमारे पूरे जीवन में बिखरे पड़े रहते हैं। सर्वांगीण और समग्र शिक्षा के लिए इनका समुचित योजनाबद्ध उपयोग किया जाना चाहिए। बालक का स्तर, अवस्था, सामाजिक प्रतिवेश तथा प्राकृतिक प्रतिवेश के अनुसार वर्ष के विभिन्न भागों में मौसम और परिस्थिति जन्य आवश्यकता-नुसार पूर्व निर्धारित योजना बना सकते हैं। यह योजना स्पष्ट हो। समय-समय पर अपनी प्रगति का सिंहा-वलोकन व मूल्यांकन किया जाता रहे तो लक्ष्य की पूर्ति में पर्याप्त प्रेरणा मिलती रहती है।

योजना एक प्रकार का संकल्प है जो शाला परिवार के सामूहिक प्रयत्नों से पूरा किया जाने वाला है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत प्रयत्न सम्मि-लित है। व्यक्तिगत प्रगति के साथ सामूहिक लक्ष्यों की पूर्ति में ही सच्ची सामाजिक शिक्षा सन्निहित है।

योजना बनाते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा :—

(१) साल भर में कार्य करने के कितने दिन और उसके अनुसार

कितना समय होगा ? अवकाश आदि के दिनों की संख्या पृथक् करना होगी ?

(२) वर्ष भर में किस-किस प्रकार के क्या-क्या काम करने होंगे ?

(३) इन कार्यों के अनुसार विभिन्न कार्यशीलन क्या-क्या होंगे ? सहायक क्रियाशीलन क्या होंगे ?

(४) किस-किस क्रियाशीलन को कितने समय की आवश्यकता होगी ?

(५) किस क्रियाशीलन में कितने समय की आवश्यकता होगी, कितना उपलब्ध है, कितना उपलब्ध करना होगा, क्या उसको प्राप्त करने की सुविधा है ?

यदि अप्राप्त हो तो अपने सीमित साधनों के अनुसार योजना में क्या परिवर्त्तन करना होगा ?

(६) किस कार्य में कितना व्यय होगा, इस व्यय की गुञ्जाइश है कि नहीं ? गुञ्जाइश न होने की सूरत में क्या हेर-फेर करने की आवश्यकता होगी ?

(७) किस काम के द्वारा क्या आमदनी होगी ?

(८) कौनसा काम वर्ष के किस भाग के लिए तथा किस सामाजिक अवसर के लिए उपयुक्त होगा ?

(९) किस कार्य को पूरा करने के लिए कितने ज्ञान की आवश्यकता होगी और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए पुस्तक आदि किन-किन उपयोगी साधनों का उपयोग करना होगा ? क्या शाला में इन साधनों की सुविधा है ? यदि नहीं तो इस सुविधा को प्राप्त करने में किस मार्ग को अपनाना होगा ? किन-किन लोगों से सहायता प्राप्त करना होगी ?

(१०) कार्यों की पूर्त्ति में किन-किन बातों की सावधानी रखनी होगी ?

(११) कार्यकर्त्ताओं की संख्या, उपलब्ध साधन, कार्य के समय के अनुसार उचित कार्य-विभाजन का भी ध्यान रखना होगा ?

(१२) वर्ष के ऋतु परिवर्तन, तदनुसार मौसम का प्रभाव, शाला समाज की सामाजिक आवश्यकताएँ, सांस्कृतिक पर्व और त्यौहार, स्थानीय परिस्थितियाँ, बालक का घरेलू वातावरण आदि सब योजना बनाने में विचारणीय अंग हैं ।

(१३) पिछले साल के कार्यों की प्रगति को भी सामने रखना होगा जिसके आधार पर नये वर्ष की योजना तैयार की जावेगी। गत वर्ष कार्य को पूरा करने में क्या कठिनाइयाँ पड़ीं, उनका सामना कैसे किया गया और इस वर्ष उनपर विजय पाने को क्या किया जाना चाहिए यह भी ध्यान में रखना होगा।

(१४) यथासम्भव बच्चों को साथ में लेकर ही योजना बनाना चाहिए। बड़ी उम्र के विद्यार्थियों का तो योजना निर्माण में क्रियात्मक सहयोग हो ही सकता है। छोटे बच्चों को अधिक मार्गदर्शन की आवश्यकता होगी। इससे बालक उन कार्यों को स्वयं अपना ही कार्य समझकर पूरा करने में रुचि एवं उत्साह रखेंगे।

(१५) इस प्रकार निर्मित वार्षिक योजना को त्रैमासिक, मासिक, साप्ताहिक और दैनिक योजना के रूप में विभाजित किया जाय। योजना की एक निश्चित अवधि में मासिक या त्रैमासिक सिंहावलोकन और प्रगति का मूल्यांकन हो। आवश्यकतानुसार आगामी त्रैमासिक या मासिक योजना में तदनुसार परिवर्तन किए जाएँ जिससे लक्ष्य की पूर्त्ति का उद्देश्य पूरा हो सके।

(१६) निर्धारित पाठ्यक्रम प्राय: शास्त्रीय ढंग का बना हुआ होता है। उसको पाठ्य-चर्चा के रूप में वर्ष के विभिन्न भागों की तथा शाला की सामाजिक आवश्यकतानुसार मनोवैज्ञानिक क्रम में रखना होगा, जिससे उन प्रसंगों को उपयुक्त स्वाभाविक वातावरण मिल सके। यह कार्य प्रत्येक पाठशाला अपने अनुकूल हेर-फेर के साथ पृथक्-पृथक् रूप से बनावेगी। एक-दो साल के अनुभव के पश्चात् एक सुनिश्चित कार्यक्रम बन सकेगा। इसके लिए कार्यकर्त्ताओं को अपने कार्य-विवरण और अनुभवों का संचयन करना होगा, जो आगामी योजना बनाने में काम में आ सके।

(१७) कभी-कभी एक ही क्षेत्र की विभिन्न पाठशालाओं के कार्यकर्त्ताओं को मिलकर अपनी योजनाओं पर पारस्परिक विचार-विनिमय करना भी उपयोगी सिद्ध होता है।

(१८) शिक्षा के कार्यक्रमों में जिन-जिन अंगों का समावेश है उन सबसे सम्बन्धित क्रियाशीलनों और सहायक क्रियाशीलनों को उनका समुचित स्थान मिलना चाहिए। बुनियादी विद्यालय की मुख्य प्रवृत्तियों में (१) स्वच्छ और स्वस्थ जीवन का अभ्यास, (२) स्वावलम्बन तथा मूलोद्योग शिक्षा, (३) सामाजिक जीवन की योग्यता का अभ्यास, (४) संस्कार और स्वाध्याय, (५) सृजनात्मक एवं रंजनात्मक प्रवृत्तियों का विकास और (६) सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का विकास है। शरीर पोषण में विभिन्न तत्त्वों की भाँति क्रियाशीलनों में इन सबको उपयुक्त स्थान मिलना चाहिए।

(१९) क्रियाशीलन तथा सहायक क्रियाशीलनों के चुनाव के बाद का उनका मासिक व साप्ताहिक विभाजन किया जाय। इसके पश्चात् उनपर आधारित ज्ञानार्जन की रूप-रेखा निश्चित की जाय और यह देखा जाय कि पाठ्यक्रम के अन्तर्गत दिये गये विषयों का कितना भाग इस प्रकार समाप्त किया जा सकता है और शेष भाग को किन क्रियाशीलनों के आधार पर समाप्त किये जाने की सम्भावनाएँ हैं।

(२०) न तो पाठ्यक्रम के विषयों का और न क्रियाशीलनों का समान रूप से प्रत्येक मास में विभाजन सम्भव है इसलिए कार्य के दिनों की संख्या व समय दोनों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक होगा।

पूर्व-नियोजित योजना द्वारा निम्नलिखित लाभ की सम्भावनाएँ हैं:—

(१) लक्ष्य की ओर अग्रसर, होते हुए उसकी पूर्त्ति।

(२) कार्य का उद्देश्य पूर्ण होने से प्रेरणा-दायक होना।

(३) वर्ष के पूरे भागों में समान रूप में प्रगति की सम्भावनाएँ। क्योंकि योजना के अभाव में या तो अनावश्यक शीघ्रता से पाठ्यक्रम समाप्त करने का दोष आजाता है और वर्ष का शेष भाग शिथिलता से व्यतीत होता है अथवा दूसरी दिशा में कार्य शिथिलता से आरम्भ किया जाकर वर्ष के अन्त में समाप्त करने की शीघ्रता करनी पड़ती है, जिससे बालकों पर अना-

वश्यक बोझ बढ़ जाता है, जो उनके स्वास्थ्य को हानिकारक सिद्ध होता है।

(४) आगामी वर्षों का कार्यक्रम निर्धारित करने में सहायता मिलती है।

(५) शिक्षण-पद्धति में व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर हेर-फेर करने की गुंजायश रहती है।

(६) शाला की समस्त प्रवृत्तियों को सुनिश्चित, पूर्व-निर्धारित एवं उपयुक्त स्थान देने की सम्भावनाएँ रहती हैं।

(७) स्वावलम्बी प्राणी में अपने काम की स्वयं आत्म-समीक्षा और मूल्यांकन करने का अवसर प्राप्त होता है।

(८) कार्य को निश्चित समय में समाप्त करने का आत्मविश्वास बना रहता है।

(९) निर्धारित योजना की पूर्त्ति, प्रस्तुत कठिनाइयाँ और उनका निराकरण स्वयं ही एक शिक्षा का साधन है। योजना-प्रणाली इसी सिद्धान्त पर ही निर्मित की गई है।

इस दृष्टि से एक अच्छी सुव्यवस्थित बुनियादी शाला में एक सुनिश्चित पूर्व-नियोजित वार्षिक योजना उसकी व्यवस्था का एक प्रमुख अंग है। योजना जितनी विचारपूर्ण ढंग से बनाई जायगी उतनी ही सफलता व कार्य-कुशलता की सम्भावनाएँ होंगी। वर्ष के आरम्भ में अनुभवी शिक्षकों तथा क्षेत्रीय निरीक्षकों का मार्गदर्शन कठिनाइयों के निराकरण में लाभदायक होगा।

दण्ड और पुरस्कार

यदि-शिक्षालय का जीवन उचित प्रकार से व्यवस्थित हो तो दण्ड और पुरस्कार द्वारा बालकों के व्यवहार-नियंत्रण की बहुत ही कम आवश्यकता पड़ती है। यदि बालकों का सामाजिक जीवन व्यवस्थित और संगठित हो, उनके संगठन का नियम और विधान हो, उनको शाला की व्यवस्था और प्रशासन में सक्रिय भाग लेने के अवसर दिये जायें, शाला के सहयोगी जीवन में बालकों को उनके गुणों की अभिव्यक्ति और उचित दिशा में शक्ति और योग्यता के उपयोग की अधिक-से-अधिक सम्भावनाएँ हो, शिक्षण का कार्य उनकी योग्यता, अव्यवस्था, स्तर, रुचि, मनोवृत्ति, मूल प्रवृत्तियों के अनुकूल हो, और उनकी व्यक्तिगत तथा सामाजिक तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके, उनके विवेक, तर्क, श्रद्धा विश्वास को उचित रूप से जगाया जा सके, इसी प्रकार से भौतिक सुविधाएँ, शाला-भवन, बैठक, पानी, रोशनी, हवा, मौसमी प्रभाव से बचाव आदि की व्यवस्था हो तो बालकों की शक्तियाँ स्वयं ही उनके विकास के लिए भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में अन्त:प्रेरणा से ही लगी रहेंगी। व्यक्तिगत प्रयत्नों के साथ शाला के उत्थान के लिए सामूहिक प्रयत्न होते रहेंगे।

किन्तु देखा यह जाता है कि यह सम्पूर्ण सुविधाजनक वांच्छित परिस्थितियाँ प्रत्येक शाला में उपलब्ध होने नहीं पातीं और प्रत्येक विद्यार्थी वहाँ के जीवन से अनुकूलता प्राप्त नहीं कर पाता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न शिक्षार्थी भिन्न-भिन्न घरों से आते हैं, जहाँ का वातावरण, नैतिक मापदण्ड, सामाजिक स्तर, रुचियाँ आदि भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार शाला के विद्यार्थियों में, नैतिक मापदण्ड और स्कूल के आदर्शों में सामंजस्य की शरण लिया करते हैं। उनकी दृष्टि से दण्ड या पुरस्कार किसी एक ही व्यक्ति को अपनी भूल-सुधार में अथवा अच्छे कार्यों में प्रोत्साहन का काम करते हैं वरन् पूरे समाज को ही भूलों से सावधान करने की तथा अच्छे कार्यों में प्रवृत्त करने की

प्रेरणा देते हैं। थार्न डाइक के मनोवैज्ञानिक कथन के अनुसार सीखने में "प्रभाव का नियम" काम करता है, जिसमें सुखद अनुभव उस काम की पुनरावृत्ति में प्रवृत्त करते हैं और दुखद अनुभव इस काम से दूर भागने की मनोवृत्ति बनाते हैं।

दण्ड देने के प्राय: क्या उद्देश्य हुआ करते हैं ? इसके उत्तर में निम्नलिखित धारणाएँ हैं:—

(१) प्राय: अपराधी को उसके अपराध के लिए प्रतिक्रिया के रूप में दण्ड दिया जाता है। इस योजना में आवेश में अपराध और उसके दण्ड में कोई अनुपात नहीं रहता है। अपराधी ऐसी दशा में सुधार की अपेक्षा प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो दूसरे अपराधों का शिकार बन जाता है।

(२) नियमों की सुरक्षा के लिए भी दण्ड का उपयोग किया जाता है। समाज के व्यक्तिगत और सामूहिक बन्धनों को स्वस्थ रखने तथा उचित संचालन के लिए समाज नियम बनाता है और उसकी सुरक्षा भी होनी चाहिये। किन्तु ऐसी दशा में अपराधी को यदि यह अनुभव हो जाय कि सामाजिक नियम के भंग होने से सामाजिक व्यवस्था भंग होकर व्यक्तिगत जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, तो सम्भव है अपराधी व्यक्ति को अपने अपराध के प्रति आत्म-पश्चात्ताप हो और उसमें स्वयं सुधार आ सके।

(३) अपराधी के अपराध की पुनरावृत्ति रोकना तथा दूसरों को भी इस प्रकार के अपराध के प्रति जागरूक करना यह भी एक उद्देश्य होता है। देखा गया है कि चोर को बन्द करने से उसकी चोरी की आदत जाती नहीं है। इसी प्रकार शोर करनेवाले बालक को एक कमरे में बन्द कर देने से उसके शोर करने की आदत कम नहीं होती वरन् इसका कभी-कभी दुष्प्रभाव भी देखा गया है कि यह दबी हुई मनोवृत्तियाँ और भी अधिक वेग से अवसर पाकर प्रदर्शित होती हैं। कभी-कभी इनका यह भी परिणाम होता है कि दूसरे विद्यार्थियों को दण्ड का एक आदर्श उपस्थित करने के लिए जब किसीको दण्ड दिया जाता है तो कभी-कभी दूसरे विद्यार्थी उस दण्ड को न्याय

संगत और कड़ा दण्ड मानकर व्यवस्था के प्रतिशोध की मनो-भावना अपना लेते हैं और व्यवस्था-भंग ही परिणाम होता है।

(४) सबसे उत्तम उद्देश्य तो अपराधी में सुधार लाने का है। अपराधी को यह बोध हो जाना चाहिये कि जो कुछ उसने किया है वह नहीं किया जाना चाहिये था। उसको पश्चात्ताप हो और वह स्वयं अपने व्यवहार में अनुकूल परिवर्तन करने को तैयार हो जाय। यह वृत्ति उसके स्वयं के लिए सहायक होगी और सामाजिक व्यवस्था को भी दृढ़ बनावेगी। एक दृष्टि है अपराध के लिए दण्ड देने की, दूसरी है नियमों की सुरक्षा की और दूसरों को आदर्श प्रस्तुत करने की जिसमें दूसरों का हित सन्निहित है, किन्तु सुधार करने के उद्देश्य से व्यक्ति का स्वयं सुधार होता है और इसके द्वारा समाज भी लाभान्वित होता है। इस प्रकार के सुधार के लिए हमको अपराधी की परिस्थिति, उसका उद्देश्य, मनोवृत्ति, उसकी विवेक-शक्ति, विचार-धारा, स्वभाव और इस प्रकार की बातों पर विचार करने की आवश्यकता हो जाती है, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तित्व से होता है इसलिए दन्ड के लिए यह कहावत ध्यान में रखने की है कि दण्ड का तात्पर्य शारीरिक कष्ट से ही नहीं होना चाहिये। कभी-कभी शारीरिक दण्ड से भी कहीं अधिक भावनाओं को ठेस पहुँचाने से प्रभाव पड़ जाता है। जब तक दण्ड से पश्चात्ताप, शर्म आदि की भावना न जागकर स्वयं के सुधार की भावना न जागे तब तक दण्ड का उद्देश्य पूरा नहीं होता है। कभी-कभी दण्ड के पूर्व ही अपराधी अपने अपराध की अनुभूति से लज्जित होकर पश्चात्ताप करता है। ऐसी दशा में दण्ड का कोई स्थान ही नहीं रहता है। इस दृष्टि से बड़ी उम्रवाले विद्यार्थियों में, जिन्में आत्मगौरव की भावना पुष्ट हो जाती है, उनमें लज्जा और पश्चात्ताप की अनुभूति बड़ा काम कर जाती है। छोटे बच्चों में शारीरिक सुख-दुख उनके व्यवहार के नियंत्रण में

पर्याप्त प्रभाव रखते हैं। इसलिए दण्ड में व्यक्तिगत अपराधी, उसका नैतिक तथा भावात्मक विकास अधिक विचारणीय है।

सभी प्राणियों में मानव का स्थान सर्वोच्च है, क्योंकि उसमें विवेक है, दया है, करुणा है, प्रेम है, विचार-शक्ति है, विचारों को अभिव्यक्त करने का साधन है, अपने तथा दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाने की क्षमता है। वह अपने व्यवहार का नियंत्रण कर सकता है, दूसरों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है। अपने बुद्धि-बल से क्रूर-से-क्रूर प्राणियों पर अधिकार कर सकता है। इस प्रकार उसमें अन्य प्राणियों पर शासन करने की भी क्षमता है। किन्तु राग द्वेष की प्रवृत्तियाँ जब तक मनुष्य में सन्तुलित रूप से कार्य करती रहती हैं तब तक वह आनन्ददायक रहती हैं किन्तु असन्तुलन में इनका विनाशकारी रूप सृष्टि को संहारक, अशान्तिदायक होकर समाज में दुर्व्य-वस्था, असन्तोष, अनियमितता तथा उच्छृङ्खलता के भाव जाग्रत करता है। प्रत्येक प्राणी स्वभाव से ही क्रियाशील है। इस क्रियाशीलता के कारण वह प्रकृति और समाज के सम्पर्क में आकर अपना शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास करता है। यह कार्य उसके व्यक्तिगत और सामाजिक हुआ करते हैं। व्यक्तिगत कर्त्तव्य पूरे न होने पर प्रकृति और सामाजिक कर्त्तव्य पूरे न होने पर समाज दण्ड की योजना करता है। इस दण्ड का शुद्ध रूप आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित का ही था; किन्तु इसकी विकृति होकर इसने शारीरिक दण्ड के अनेक अवांच्छनीय रूप धारण कर लिए जिनका दुष्परिणाम शिक्षा-शास्त्रियों ने इस प्रकार बताया है:—

(१) दण्ड देनेवाले और पानेवाले दोनों का पतन करता है। दण्ड देनेवाला पानेवाले की दृष्टि से गिरकर अश्रद्धा का पात्र बन जाता है।

(२) नियमानुकूल तथा मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। न तो वह बालक का मानसिक सुधार करता और न उनमें पश्चात्ताप की भावना जाग्रत करता है।

(३) बालक की कोमल भावनाओं को भी प्रभावित नहीं करता और न बालक को अपने विवेक की तराजू पर स्वयं अपने अपराधों को तोलने का अवसर देता है।

(४) दण्ड देनेवाला अपनी शक्ति का असंतुलित ह्रास करता है और उसका व्यक्तित्व गिरता है।

(५) शिक्षक जब अपनी योग्यता से बालक को प्रभावित करने में असफल होता है तब ही दण्ड की शरण लेता है। यह उसकी योग्यता का द्योतक है।

(६) बालक व शिक्षक का सम्बन्ध विकृत हो जाता है। प्रेम, श्रद्धा और सहानुभूति के स्थानपर द्वेष और घृणा का उदय होता है।

(७) बालकों में कभी-कभी दण्डवाले बालक की प्रतिष्ठा बढ़ती है। उसमें उद्दण्डता तथा उच्छृङ्खलता आती है।

(८) बालकों में से निर्भीकता जाती रहती है। वे झूठ बोलने तथा अपराध को छिपाने और धोखा देने के अभ्यस्त हो जाते हैं।

(९) दण्ड का स्थायी प्रभाव नहीं होता है। दबी हुई वृत्तियाँ समय पाकर अधिक वेग से काम करती हैं।

(१०) दण्ड देनेवाले का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है।

(११) बालकों में अकारण प्रतिशोध की भावना जाग्रत होती है।

दण्ड देने के कई प्रकार हैं। समाज में आदर्शों तथा जीवन-मूल्यों का परिवर्तन, शाला अनुशासन की धारणा में परिवर्तन तथा शिक्षा-मनोविज्ञान ने इनके रूपों को बिलकुल ही बदल दिया है। शिक्षा-जगत् में नये प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि बालकों को अनुचित दबाया जाना उनके विकास को अवरुद्ध करता है। इसलिए उनकी प्रवृत्तियों में निर्देशन, मार्गान्तरीकरण और शोध की ही आवश्यकता है। उसके लिए मनोवैज्ञानिक साधनों की खोज की जानी चाहिए।

(१) बालक के व्यवहार में सुधार लाने को सबसे पहली सरल रीति यही है कि शिक्षक द्वारा बालक को उसके अपराध के प्रति समझायश के रूप में उलाहना दिया जाय। शिक्षक के शस्त्रागार में उसकी जवान उसका एक प्रभावशाली शस्त्र है, जिसका उपयोग व्यक्तिगत रूप से किया जाना चाहिए। सबसे अच्छा तो यही है कि एकान्त में शिक्षक आत्मीयता से, स्पष्टता से, संक्षिप्त में, सहानुभूति के साथ बालक को उसके अपराध से अवगत करा दे। अपराध के अनुपात से कभी-कभी कड़ी डाँट-फटकार की भी आवश्यकता होगी। किन्तु अधिक कड़ापन विरोधी भावनाओं को जन्म देता है। दूसरे विद्यार्थी की की तुलना करना भी कभी-कभी विद्यार्थियों में उनके प्रति घृणा उत्पन्न करता

है। पिछले अपराधों का उल्लेख भी सुधार करने की हिम्मत को कम करता है। कड़वे व्यंग भी कभी-कभी शारीरिक दण्ड से भी अधिक दुखदाई होते हैं। इनको भी बचाना ही चाहिये।

(२) विद्यालय में निर्धारित अवधि के बाद रोकना भी एक तरीका है। यह प्रायः देर से आने, काम पूरा न करने व अनियमितता के लिए उपयोग में लाया जाता है। इससे बालक में विद्यालय के प्रति तथा उस काम के प्रति जो इस अवधि में पूरा करने को दिया जाता है, घृणा हो जाती है। प्रायः इस अवधि में यदि उसको अकेला रखकर खेल व मनोरंजन आदि रुचिकर प्रवृत्तियों से अलग रखा जाता है तो स्वभावतः उसपर इसका प्रभाव पड़ता है और वह इस प्रकार के अपराधों से दूर रहने का प्रयत्न करता है। प्रायः ऊधमी बालकों के लिए यह उपयोगी है। छोटी उम्र के बालकों को यह अधिक प्रभावकारी है।

(३) अपराध के लिए अंक काटना, रियायतें बन्द करना और कक्षावनत कर देना आदि भी दूसरे प्रकार हैं। यदि अपराध के लिए अंक काटना है तो सद्व्यवहार के लिए अंक दिए जाना भी चाहिए। इसके लिए एक खाता रखना पड़ेगा और विद्यार्थी अपने अस्थायी सद्व्यवहार से अपराध के अंकों की कमी को पूरा करता चलेगा। इससे सद्व्यवहार के लिए वास्तविक प्रेरणा नहीं मिलती है। कक्षावनति न्यायसंगत भी नहीं है, अमनोवैज्ञानिक है और बालक की प्रगति में बाधक है। बालक व पालक दोनों को ही तर्क सिद्ध नहीं है, क्योंकि अपराध और दण्ड का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उनकी रियायतों, स्वत्वों और अधिकारों में कमी कर देना अवश्य एक प्रभावकारी साधन है। उनमें पर्याप्त सुधार आने तक की अवधि के लिए यह अस्थायी ही होना चाहिए।

(४) दण्ड का सामाजिक प्रदर्शन भी एक ढंग है। ग्राम-सभा में अपराध का स्पष्टीकरण किया जाकर समाज को अवगत कराया जाय। इस प्रकार छात्र अपने आचरण से लज्जित होकर समाज की घृणा से अपने को बचाने का प्रयत्न करता है और आचरण में सुधार आता है। किन्तु सबसे अच्छी रीति तो उसको एकान्त में ही समझाने की है। कक्षा का सामूहिक नैतिक स्तर अच्छा होने पर यह उपयोगी हो सकता है अन्यथा एक विरोधी वातावरण बनने की भी संभावना रहती है। यह ध्यान रखा जाय कि यह स्वाभिमानी बालकों को सबसे बड़ा दण्ड है। यह उनके स्वाभिमान पर चोट करनेवाली

चीज होगी । इसका प्रयोग बड़ी सावधानी से बड़े प्रतिबन्धों के साथ करने की आवश्यकता है। बालकों की आम सभा में बालकों के ही प्रश्न-उत्तर इसमें परिष्कार को पर्याप्त अवसर प्रस्तुत करते हैं ।

(५) कक्षा से अस्थायी निष्कासन भी एक ढंग है । प्राय: जो विद्यार्थी अपराधों की पुनरावृत्ति करने के अभ्यस्त हो जाते हैं उनको यह दण्ड काम में लाया जाता है। बड़े अपराध के लिए ही इसका प्रयोग करना होता है। दूसरों का उदाहरण रखने तथा अपराधी के सम्पर्क से बचाने के अतिरिक्त यह उस बालक को भी अवसर देता है कि वह समाज-विरोधी प्रवृत्तियों और अपराधों को सोचे और उसमें सुधार करे। इसका लाभ तब तक ही है जब तक कि बालक शाला की परवाह करे और अपनी इस हानि का उसको अनुमान भी हो।

(६) शाला से निष्कासन एक बहुत बड़ा दण्ड है जो बहुत गम्भीर अपराधों और अनुशासन के असाध्य अपराधियों के लिए काम में लाया जाता है। किन्तु यह बात ध्यान में रखी जानी है कि इससे बालक के सुधार की सब सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और अवांछनीय प्रवृत्तियों का एक व्यक्ति समाज में प्रवेश करता है जिसकी मनोवृत्तियों का परिष्कार और सुधार भी नहीं होने पाया है, और वह अपनी छूत को समाज में भी फैलाने का अवसर पा रहा है। यह शाला के समाज की बालक को सुधारने में चुनौती है और उसकी असफलता का परिणाम है।

(७) शारीरिक दण्ड तो प्रत्येक दशा में त्याज्य है यह निर्विवाद सत्य है और इसमें कोई मतभेद भी नहीं रहा है।

दण्ड के सम्बन्ध में संक्षेप में केवल यह कहना पर्याप्त होगा कि कठोरता से कठोरता और नम्रता से नम्रता पैदा होती है। द्वेष से द्वेष उत्पन्न होता है और प्रीति से प्रीति। जिनके प्रति यथेष्ट सहानुभूति रखी जाती है उनके हृदय में अपने प्रति सहानुभूति उदय हुए बिना नहीं रहती। कठोर नियम यद्यपि अपराधों की रोक के लिए ही बनाये जाते हैं और इसके प्रतिकूल, सौम्य उदार नियम मनोविकारों को इतना सौम्य और शान्त कर देते हैं कि लोगों में औरों को दुःख पहुँचाने की प्रवृत्ति बहुत कम हो जाती है।

बच्चों को पढ़ाने-लिखाने में कठोर दण्ड देने से लाभ नहीं; बल्कि हानि ही है। लोगों का अनुभव है कि जिन बच्चों को इस तरह का दण्ड दिया गया

है वे बड़े होने पर कभी अच्छे सिद्ध नहीं हुए। यही नहीं, ऐसे बालकों में से कुछ तो भीषण अपराधी सिद्ध हुए हैं। पाठशालाओं में शारीरिक दण्ड देने का तरीका पुराना है। इसके लिए स्कूल की व्यवस्था और शिक्षक दोनों ही दोष के भागी हैं। यदि शिक्षक का व्यक्तित्व, प्रभावशाली है, यदि उसका चरित्र उत्तम है और उसके सिद्धान्त अच्छे हैं, यदि उसमें चतुरता, प्रेम, सहानुभूति, पढ़ाने की रुचि और योग्यता है और यदि पाठशाला का वातावरण आश्रम की भाँति पवित्र भावनाओं और उच्च आदर्शों से ओत-प्रोत है तो शारीरिक दण्ड की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। डॉक्टर हेमले ने "स्कूल व्यवस्था" में यह लिखा है कि शारीरिक दण्ड स्कूल की व्यवस्था की कमजोरी का द्योतक है। डॉक्टर ब्रे का स्कूल-व्यवस्था के सम्बन्ध में कहना है कि वास्तविक अनुशासन इसी में है कि बालकों का शासन बिना कड़ी रुकावटें लगाए चलता रहे। तात्पर्य यह कि जब शिक्षक को दण्ड का आश्रय लेना पड़ता है तब शिक्षक अपने अनुशासन की योग्यता तथा प्रभाव के आदर्श से गिर जाता है। इसलिए हर एक लादा हुआ काम, हर एक पैदा की हुई रुकावट, हर प्रकार की जाँच-पड़ताल बालकों के स्वतन्त्र विकास में बाधक होती है। अपराधों की "रोक" के लिए बनाए गए कठोर नियमों से बालकों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति एवं विचारों की मौलिकता नष्ट हो जाती है। अतः बालकों को एक सीमा तक अवश्य स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए अन्यथा उनकी इच्छा-शक्ति का विकास होगा।

"स्वतन्त्रता पाठशाला का जीवन है" इस सिद्धान्त का समादर करते हुए बालकों में सामाजिक उत्तरदायित्व के भावों को जाग्रत किया जाना चाहिए, जैसा कि बुनियादी पाठशालाओं में मन्त्रि-मण्डल तथा ग्रामसभा की रचना द्वारा किया जाता है।

बालक में कुछ गुप्त शक्तियाँ भरी रहती हैं। वह उनका प्रदर्शन चाहता है, विकास चाहता है। अच्छी शिक्षा-पद्धति में उनको उपयोग किया जाना चाहिए। अच्छे शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह बालकों को ऐसी प्रवृत्तियों में व्यस्त रखे जिससे उनके व्यक्तित्व का ह्रास न होने पाये। इस प्रकार के विकास के साथ स्वयं ही अनुशासन और संयम आ जाते हैं।

डॉक्टर ब्रे का कहना है कि यदि स्कूल की व्यवस्था अच्छी है। और विद्यार्थियों में शिक्षक के प्रति सम्मान की भावना है तो अपराधों को ठीक

करने की यह रीति उत्तम है कि शिक्षक बालक की गलती को उसे समझाये जिससे गलती करनेवाला सच्चा पश्चात्ताप करे और उसके साथी भी यह अनुभव करे कि यह एक अपराध था। किन्तु इस रीति की सफलता अपराधी को उसके अपराध से अवगत करने हेतु शिक्षक द्वारा अपनाए गए तरीके पर निर्भर करती है। तरीका ऐसा होना चाहिए कि उसका स्थायी प्रभाव पड़े और अपराधी को वास्तविक पश्चात्ताप हो। यदि ऐसा नहीं हुआ तो हित के स्थान में अहित हो सकता है।

बालक जैसे घर में माँ-बाप के प्रेम से बंधे रहते हैं वैसे ही वे प्रेमी शिक्षक के बन्धन में बंधे रहते हैं। ऐसी दशा में अप्रसन्नता की मुद्रा मात्र ही बालकों को बड़े-से-बड़े दण्ड का काम दे जाती है। कभी-कभी बालकों को वर्ग में से हटाकर एकान्त में रख देना भी दण्ड का काम देता है। एकान्तवास से हमारा आशय ऐसे स्थान से है जहाँ से वे दूसरों का काम करते तथा काम का आनन्द लेते हुए देखकर लालायित होते रहें। कभी-कभी प्रशंसा करना या दोषारोपण करना भी अच्छे साधन हो सकते हैं। किन्तु इनमें यह सावधानी रखनी चाहिये कि दोनों में से कोई भी तुलनात्मक न हो। यदि ऐसा हुआ तो बालकों में आपस में द्वेष तथा घृणा के भाव पैदा होंगे। प्रशंसा के बनिस्बत दोषारोपणों को कम काम में लाया जाना चाहिये। प्रशंसा साधारण कामों में न की जाये। वह साहस, चतुरता निःस्वार्थता अथवा त्याग के किसी कठिन तथा असाधारण कामों के ही लिए उपयोग में लाई जानी चाहिये।

बालक को मनोरंजन आदि के साधनों से वंचित कर देना अथवा उसके अंक काट देना आदि बालक में पश्चात्ताप के भाव उत्पन्न नहीं करते, और दण्ड का उद्देश्य पूरा नहीं होने पाता। इसी प्रकार किसी काम को सजा के रूप में बार-बार करने को कहने से भी सुधार की अपेक्षा अनैतिकतापूर्ण बेगार की भावना उत्पन्न होती है। इसी प्रकार कक्षा में समय के बाद तक रोक देने की पद्धति भी प्रचलित है। परन्तु इसके द्वारा बालक स्वस्थ वायु-मण्डल से वंचित रहता है। आर्थिक दण्ड गरीब बालकों के पालकों पर अत्यन्त भार-रूप होता है। तथा अमीरों को उसकी कोई परवाह नहीं रहती है। कभी-कभी बालक आर्थिक दण्ड चुकाने के लिए घरों में से दाम पैसे चुराना सीखते हैं। पाठशाला से विद्यार्थी को निकाल देना इस बात का

परिचायक है कि पाठशाला जिस बालक की शिक्षा की जिम्मेदारी एक बार ले चुकी है उसे निभाने में असफल रही है। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शारीरिक दण्ड सर्वथा अनुचित है।

पुरस्कारों के सम्बन्ध में भी लोगों का मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि मानव प्रकृति अन्ततः मानव प्रकृति ही है। इसलिए प्रोत्साहन के लिए पुरस्कार देना ठीक ही है। दूसरी ओर लोगों का मत है कि शिक्षा के क्षेत्र में मुकाबले या होड़ की भावना नहीं होनी चाहिए। शिक्षा का क्षेत्र तो विकास का क्षेत्र हैं, वह मुकाबले का दंगल या अखाड़ा नहीं है। इसलिए प्रतियोगिताओं के फलस्वरूप दिए गए पुरस्कार, रिश्वत अथवा प्रलोभन नैतिक स्तर को ऊँचा नहीं उठाते। सदा ऐसा ही हो सो बात भी नहीं है। कभी-कभी वे उत्तेजना प्रदान करके बालक को अधिक लगन एवं उत्साह के साथ कर्त्तव्यपालन की ओर प्रवृत्त भी करते हैं। किन्तु पुरस्कार सदा परिश्रम के फलस्वरूप दिए जाने चाहिए और वे संख्या में थोड़े तथा प्राप्त करने में कठिन होने चाहिए।

पुरस्कारों का मूल्य अधिक नहीं होना चाहिए। हाँ यदि वे उपयोगी और उद्योग में सहायक हों तो ऐसे पुरस्कार देने में भी कोई हानि नहीं है। परन्तु वे यदा-कदा और कठोर परिश्रम के फलस्वरूप ही दिए जाने चाहिए।

पुरस्कार किस प्रकार के हों, इस विषय में यह स्मरणीय है कि जिस दिशा में बालक ने उन्नति की हो पुरस्कार उसी दशा से सम्बन्धित हो। उदाहरणार्थ यदि किसी विषय में बालक ने विशेष योग्यता का परिचय दिया हो तो उसी विषय से सम्बन्धित पुस्तक तथा सामान पुरस्कारस्वरूप दिया जाना चाहिये। प्रमाण-पत्र भी एक अच्छा पुरस्कार है। उच्च श्रेणी के प्रमाण-पत्र थोड़े ही दिए जाने चाहिए और उनको प्राप्त करना भी कठिन होना चाहिए। समयानुकूल न्यायोचित प्रशंसा बड़े-से-बड़े पुरस्कार का काम देती है। चतुर तथा परिश्रमी बालकों के लिए छात्र-वृत्ति भी एक अच्छा पुरस्कार है। नवीन पद्धति में बालकों को प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण घोषित न करते हुए प्रमाण-पत्रों को ही श्रेणीबद्ध करने अथवा एक निश्चित योग्यता पर एक निश्चित श्रेणी का प्रमाण-पत्र दिए जाने का विधान है। इससे बालक उस श्रेणी तक पहुँचने का प्रयत्न करता है और दूसरे बालक से मुकाबला करने की भावना भी उसमें उत्पन्न नहीं होने पाती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि छोटे बालक दिखावे के बड़े शौकीन होते हैं अतएव

ऐसे बालकों को प्रोत्साहन न देने के लिए सामूहिक रूप में पुरस्कार दिया जाना उचित है। आज-कल विशेषकर लोग सामूहिक पुरस्कार के पक्ष में हैं। बालकों को व्यक्तिगत पुरस्कार न देते हुए उनकी कक्षा, टोली अथवा दल को ही पुरस्कार दिया जाये, जिससे उसमें निस्वार्थता के भाव जाग्रत हों।

सामूहिक पुरस्कार के लिए नीचे लिखे विषय लिए जा सकते हैं :—

(१) कक्षा में उपस्थिति
(२) व्यवस्था में सहयोग
(३) स्वावलम्बन में प्रगति
(४) समाज-सेवा
(५) सामूहिक व व्यक्तिगत सफाई
(६) सांस्कृतिक कार्यक्रम
(७) समाज-शिक्षा
(८) वाक् प्रतियोगिता, कविता, अभिनय आदि
(९) स्वस्थ खेल-कूद, मनोरंजन
(१०) शोध या प्रयोग कार्य
(११) साहित्य-निर्माण
(१२) पत्रिका-प्रकाशन
(१३) प्रदर्शनी आदि

शिक्षालय द्वारा समाज-सम्पर्क

विदेशी शासन-काल में समाज की आवश्यकताओं की उपेक्षा की गई व शिक्षा का उद्देश्य शासन की आवश्यकता-पूर्त्ति मात्र ही रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि पाठशाला सामाजिक वातावरण से दूर होती चली गई है। एक ओर पालक और उनका उद्योग था दूसरी ओर शिक्षा के साँचे में गढ़े हुए बालक थे जो न तो स्वावलम्बी थे और न जिनको अपने पारिवारिक उद्योग तथा सामाजिक जीवन से प्रयोजन था। पाठशाला और समाज के इस पार्थक्य ने एक ओर तो बालकों को सामाजिक विकास की दृष्टि से साधनहीन कर दिया और दूसरी ओर पाठशाला द्वारा प्राप्त ज्ञान से पालकों को वंचित रखा। फलतः औद्योगिक शिक्षा का ह्रास हुआ, शिक्षा केवल पुस्तकों तक ही सीमित रह गई, संस्कृति का विकास रुक गया, बच्चे समाज और परिवार के जीवन से दूर हो गए। पाठशाला और समाज के सम्बन्ध विच्छेद के साथ शिक्षक व पालकों का सम्बन्ध टूट गया, नई-नई जातियाँ बन गईं, नागरिकता की मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो गईं, शिक्षा में अपव्यय बढ़ गया, सर्वसाधारण की शिक्षा कठिन हो गई, और अन्य अनेक दोष उत्पन्न हो गए।

इन दोषों पर दृष्टिपात करते हुए एक ओर जहाँ शिक्षण-पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ दूसरी ओर समाज को शिक्षित बनाने के हेतु समाज-शिक्षा एवं प्रौढ़-शिक्षा आदि अनेक योजनाओं का जन्म हुआ। भिन्न-भिन्न दिशाओं में किए गए ये प्रयत्न यदि एक दूसरे से समन्वित न हों तो समाज की सर्वतोमुखी उन्नति सम्भव नहीं है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए आज चारों ओर यही आवाज है कि पाठशाला को ही समाज का रूप दिया जाय। आज के शिक्षा-शास्त्रियों का तो कथन है कि पाठशाला समाज का रूप ही नहीं वरन् स्वयं समाज ही है। उदाहरणार्थ यदि ग्राम की सर्वाङ्गीण उन्नति होना है तो पाठशाला ही ग्राम की प्रवृत्तियों का केन्द्र होना चाहिए। इस प्रकार जब पाठशाला व ग्रामीण समाज के बीच सम्बन्ध

स्थापित होगा तो इनको पृथक् करनेवाली रेखा स्वयं ही क्षीण होती चली जायेगी।

पाठशालाएँ अथवा शिक्षा-केन्द्र निकटवर्त्ती ग्रामों से आवश्यक सम्बन्ध स्थापित कर ग्रामों के पुनर्निर्माण की योजनाओं को सफल बनाने में योग देंगे। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के हेतु यह समझा गया है कि ग्रामीण पाठशाला या शिक्षा-केन्द्र को सामाजिक-केन्द्र के रूप में संगठित किया जाये और समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए जिन प्रवृत्तियों को अपनाना उचित जान पड़े उन्हीं के चारों ओर शिक्षा के कार्यक्रम की रचना हो।

समाज का संगठन ग्रामीण जनता को साथ में लेकर लोकतन्त्रीय स्वायत्त शासन की प्रणाली पर किया जाय। काम का बँटवारा प्रवृत्तियों के अनुसार चुनाव-पद्धति से किया जाय। अवधि निश्चित करते समय कार्यकर्त्ताओं की सुविधा का ध्यान रखा जाय और अधिक लोगों को काम करने का अवसर प्रदान किया जाय।

सुझाव के रूप में कुछ प्रवृत्तियाँ नीचे दी जा रही हैं जिनका समावेश सामाजिक-केन्द्रों के कार्यक्रम में किया जा सकता हैं :—

साँस्कृतिक कार्यक्रम:—

(१) पुस्तकालयों तथा वाचनालयों का संगठन।

(२) अध्ययन-मण्डलों की स्थापना।

(३) पाठशाला-केन्द्र पर साधारण जनता के उपयोग के लिए एक रेडियो की व्यवस्था।

(४) साहित्य गोष्ठी, नाटक, गायन, ग्रामगीत, ग्रामनृत्य आदि का आयोजन।

(५) राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक उत्सवों एवं त्योहारों का आयोजन।

(६) शैक्षणिक यात्राएँ, जिनमें बालक और पालक समान रूप से भाग लें।

(७) ग्रामीण संग्रहालय तथा प्रदर्शनी का आयोजन, जिसमें ग्रामोद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं का प्रदर्शन भी हो।

सामाजिक कार्यक्रम द्वारा ग्राम का पुनर्निर्माण:—

(१) ग्राम की सफाई के लिए संगठन एवं सामूहिक सफाई की योजना

(२) ग्राम की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक समस्याओं का अध्ययन और उनकी पूर्त्ति का सामूहिक प्रयत्न ।

(३) शिक्षा और सुन्दर ग्राम-रचना की दृष्टि से ग्राम की नाप-जोख और जनसंख्या का लेखा रखना ।

(४) व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार और बीमारियों से बचने और बचाने के उपायों का प्रचार ।

(५) ग्रामोद्योग, हस्तकौशल और धन्धों का अध्ययन । उनके उत्पादन में वृद्धि और उनके विकास के साधनों की खोज करना ।

(६) कृषि के नवीनतम वैज्ञानिक साधनों से परिचित कराना और उनसे लाभ उठाने की योजना बनाना । कृषि के साधनों में सुधार करना । छोटे-छोटे भूखण्डों के स्वामियों को सहकारिता के आधार पर संगठित कर आर्थिक अपव्यय की रोक करना ।

(७) ग्राम में सहकारी समिति की स्थापना ।

(८) बच्चों और प्रौढ़ों के स्वास्थ्य मनोरंजन के हेतु खेल-तमाशे आदि का आयोजन ।

(९) सामूहिक प्रार्थना के आयोजन द्वारा धार्मिक सहिष्णुता उत्पन्न करना । सब धर्मों के प्रति समादर की भावना जाग्रत करने के लिए धर्मों के मूल प्रवर्त्तकों की शिक्षाओं तथा जीवन-चरित्रों से परिचित कराना ।

(१०) सेवा-दलों की स्थापना करना और उत्सवों, त्योहारों, मेलों, सभाओं, बीमारियों और अन्य इसी प्रकार के अवसरों पर उनकी सेवाओं से लाभ उठाना ।

(११) नवयुवक दल, बाल शिक्षा-प्रसारक मण्डल, महिला हितकारिणी सभा तथा इसी प्रकार के संगठनों का आयोजन ।

(१२) ग्राम-सेवक दल द्वारा कुओं, सड़कों आदि सार्वजनिक स्थानों की सफाई का काम साप्ताहिक या पाक्षिक रूप में किया जा सकता

है। इस कार्यक्रम में तालाबों की सफाई, रास्तों की मरम्मत, पुल-पुलियों का निर्माण, खाद के गड्ढे खोदना, स्थायी या चलते-फिरते शौचालय बनाना, बगीचे बनाना, बच्चों के खेलों के साधन जुटाना, झाड़ियों तथा अनावश्यक वनस्पतियों से भूमि को मुक्त करना। वर्षा के पानी तथा गन्दे पानी के निकास की व्यवस्था, पीने के पानी की सफाई, ग्राम के बच्चों की व उनके कपड़ों की सामूहिक सफाई, कूड़ा डालने के स्थानों का निर्माण आदि अनेक कार्यों का समावेश किया जा सकता है।

दक्षिण भारत के एक बुनियादी शिक्षा के प्रशिक्षण-केन्द्र पर किये गये एक प्रयोग का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है, जो इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि पाठशाला को सामाजिक शिक्षा का केन्द्र किस प्रकार बनाया जा सकता है। इस प्रयोग में "यदि प्रौढ़ पाठशाला में नहीं आते तो प्रौढ़ों के पास पाठशाला को लाया जाय" गांधीजी के इस सिद्धान्त को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया गया है।

प्रशिक्षण-केन्द्रों पर शिक्षार्थी प्रायः छात्रावासों में ही रहा करते हैं। उक्त केन्द्र ने एक नया प्रयोग आरम्भ किया। प्रशिक्षण-केन्द्र ने अपने सफल संचालन तथा सहयोग की भावना से ग्रामीणों के हृदय को पहले ही जीत लिया था, अब उसने प्रत्येक शिक्षार्थी को छात्रावास में न रखकर एक-एक ग्रामीण के घर में पृथक्-पृथक् रूप से रखने की योजना बनाई है। शिक्षार्थी केन्द्र के प्रत्येक कार्यक्रम में सम्मिलित होने को निर्धारित समय पर घंटी की आवाज सुनकर आया करते थे। शिक्षार्थी जिस घर में रहता था उसके सदस्यों पर उसके नियम, संयम, स्वच्छता एवं दिनचर्या का मूक प्रभाव पड़ता था, साथ ही वह अपने क्रियात्मक सहयोग द्वारा उस घर के वातावरण को साफ, स्वच्छ, स्वस्थ तथा आनन्दमय बनाने का प्रयत्न भी करता रहता था। इस प्रकार यह योजना एक घर तक ही सीमित नहीं रहती थी, वरन् शिक्षार्थी और ग्रामीण एक छोटा-सा संगठन बनाकर साप्ताहिक रूप से उस क्षेत्र की सर्वांगीण उन्नति करने में प्रयत्नशील रहते थे। दूसरी ओर शिक्षार्थी का शिक्षालय में बार-बार आना-जाना आबाल वृद्ध सभी के लिए जिज्ञासा तथा उत्सुकता का कारण बना रहता और प्रार्थना आदि सांस्कृतिक कार्यक्रमों में, सामूहिक सेवा-दलों में सामूहिक श्रम-कार्यों में, मेला प्रदर्शनी में, अनायास

ही वे भी शिक्षार्थी के साथ सम्मिलित हो जाया करते थे। इस प्रकार व्यक्तिगत रूप से परिवार में, दल के रूप में मोहल्लों तथा समूह के में प्रशिक्षण-केन्द्र पर अपरोक्ष रूप से सामाजिक शिक्षण का वातावरण बना रहता था। दूसरे शब्दों में समग्र ग्राम ने ही एक सुविस्तीर्ण प्रशिक्षण केन्द्र का रूप धारण कर लिया था, जिसमें छोटी-बड़ी सभी अवस्थाओं के स्त्री और पुरुष उसकी समस्त प्रवृत्तियों में भाग लेकर उस क्षेत्र के सर्वतोमुखी विकास में योगदान करते थे। इस प्रकार सफल प्रयोग के आधार पर ही शाला को समाज-शिक्षा का केन्द्र बनाया जा सकता है।

चरित्र-बल, संगठन, एवं सहयोग के आधार पर ग्राम की जनता की सहानुभूति, विश्वास एवं श्रद्धा प्राप्त करके प्रत्येक शिक्षण-केन्द्र इस प्रकार की उपयोगी सेवा कर सकता है। बालक, पालक एवं शिक्षकों के सामूहिक प्रयत्नों तथा सहयोग का इससे अच्छा आदर्श क्या हो सकता है कि ग्रामीण अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति का सामूहिक प्रयत्न कर समाज को स्वस्थ, सुखी और समृद्धिशाली बनायें जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को एक विकसित समाज में रहकर अपने व्यक्तिगत विकास का उत्तम अवसर प्राप्त हो और समाज एवं व्यक्ति का सम्बन्ध सुदृढ़ हो।

इस उद्देश्य को लेकर ग्राम-सम्पर्क-शिविरों का विशेष आयोजन भी हितकर होता है। एक सप्त-दिवसीय शिविर की रूप-रेखा नीचे दी जा रही है:—

प्रथम दिवस:—

प्रातःकाल.—शिविर-स्थल की सफाई, शिविर-व्यवस्था, शिविर-कार्य-विभाजन, शिविर-योजना।

प्रार्थना व झंडाअभिवादन, ग्राम सभा, उद्घाटन समारोह, ग्रामीणों से आगामी कार्यक्रमों में भाग लेने को व्यक्तिगत सम्पर्क।

दोपहर.—भोजन व विश्राम के पश्चात्, ग्राम सम्बन्धी साहित्य का स्वाध्याय, ग्राम का सामाजिक अध्ययन और उसपर चर्चा। सामाजिक जीवन के विकास के सुझाव (ग्रामीणों को भी सम्मिलित किया जाय)।

सायंकाल.—स्वास्थ्य मनोरंजक खेलों का आयोजन (ग्रामीण भी सम्मिलित हों), सायंकालीन प्रार्थना। ग्राम सभा व सांस्कृतिक कार्यक्रम—अभिनय, भजन, लोक-गीत, लोक-नृत्य व लोक-नाट्य, उनके परिष्कृत रूप में।

द्वितीय दिवस:—

प्रात:काल.—नित्य प्रति के कार्यों के पश्चात् ग्रामीण आवश्यकतानुसार किसी योजना-बद्ध श्रम द्वारा निर्माण-कार्य का आरम्भ।

दोपहर.—गत दिवस की चर्चा पर रिपोर्ट व नोट बनाना। ग्राम का आर्थिक अध्ययन, चर्चा, विचार-विनिमय व उन्नति के सुझाव।

सायंकाल.—नित्य प्रति की भाँति।

तृतीय दिवस:—

प्रात:काल.—गत दिवस की भाँति।

दोपहर.—स्वाध्याय व प्रतिवेदन लेखन, ग्राम के उद्योगों का अध्ययन, चर्चा, विचार-विनिमय और उनके सुधार के सुझाव।

साँयंकाल—नित्य प्रति की भाँति।

चतुर्थ दिवस:—

प्राय:काल.—हस्त-उद्योग, गृह-उद्योग और ग्रामोद्योगों के कार्यों का प्रत्यक्ष प्रदर्शन। ग्रामीणों को सीखने-सिखाने में सम्मिलित किया जाय।

दोपहर.—स्वाध्याय, प्रतिवेदन, सांस्कृतिक अध्ययन, उसपर चर्चा और विकास के सुझाव।

सायंकाल.—नित्य प्रति की भाँति, चलचित्र-प्रदर्शन, मैजिक लैन्टर्न चर्चा, कवि-सम्मेलन आदि।

पंचम दिवस:—

प्रात:काल.—प्रदर्शनी का आयोजन।

दोपहर.—शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर चर्चा और उनके निराकरण के सुझाव। स्थानीय शाला के रूपांतर के सुझाव,

स्थानीय शिक्षकों की कठिनाइयाँ और उनके हल के सुझाव, ग्राम की शैक्षणिक पैमायश ।

छठा दिवस.—

प्रातःकाल.—सामूहिक प्रतियोगिताएँ ।

दोपहर.—ग्राम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर चर्चा । प्रतिवेदन के अन्तिम निष्कर्ष ।

सायंकाल.—सामूहिक प्रतियोगिताएँ ।

सप्तम दिवस.—

प्रातःकाल—सायंकालीन समारोह की तैयारी ।

दोपहर.—निष्कर्ष पर चर्चा ।

सायंकाल.—शिविर-सामाप्ति-समारोह ।

परीक्षा, समीक्षा तथा मूल्यांकन

किसी भी कार्य-प्रणाली में यह नितान्त आवश्यक है कि कार्य की सफलता की जाँच की जाय। इसी प्रकार विद्यालयों में भी यह आवश्यक है कि इस बात की जाँच की जाय कि जिन उद्देश्यों से शिक्षालय काम कर रहे हैं उनमें सफलता कहाँ तक हो रही है, जिन विद्यार्थियों के निर्माण का कार्य उनके सुपुर्द है, उनकी प्रगति किन अंशों तक हो रही है, शालाएँ उनके विकास में कितनी सफल हो रही हैं, शिक्षण-प्रणाली कहाँ तक उपयुक्त है, पद्धति में किन-किन संशोधनों की आवश्यकता है, भविष्य के लिए क्या-क्या सुधार किए जाना हैं, यदि प्रश्नों के उत्तरों के लिए यह आवश्यक है कि कार्य के जाँच की एक स्वस्थ योजना हो।

परीक्षाओं की प्रथा बहुत पुरानी है; किन्तु देश-देश में और समय-समय पर इनमें भिन्नता रहती आई है। परीक्षा की पद्धति और शिक्षा के उद्देश्यों का भी घनिष्ट सम्बन्ध है जिनका विस्तृत विवेचन आगे किया जा रहा है। चीन देश में तीन-चार हजार वर्ष पूर्व से भी परीक्षा की एक विस्तृत प्रणाली रही है। भारतवर्ष में भी आमसभाओं में भाषण, वाद-विवाद आदि में सफलता शैक्षणिक प्रगति का द्योतक रही है। रोम, यूनान आदि देशों में भी परीक्षा-प्रथा रहती रही है। मध्यकालीन युग में यूरोप में भी विश्व-विद्यालयों द्वारा उच्चतम परीक्षाओं के लिए आमसभा में अपने निबन्धों के समर्थन के लिए अपना प्रदर्शन करने की आवश्यकता पड़ती थी। बाद में लिखित परीक्षाओं ने इन सबका स्थान ले लिया।

प्रायः परीक्षाएँ लिखित, मौखिक और व्यावहारिक रूप में ही ली जाती हैं। लिखित परीक्षा में निबन्ध के रूप में लम्बे उत्तरवाले प्रश्नों को हल करना, स्वतन्त्र रूप से किसी विषय पर एक विस्तृत निबन्ध की रचना करना और नवीन प्रणाली में प्रश्नों के उत्तरों के रूप में एक शब्द देना, चिह्नित कर देना या बाँट देना। सामुख्य द्वारा मौखिक परीक्षा लेना। आन्तरिक परीक्षा के रूप में वर्ष के भिन्न-भिन्न भाग में मासिक, त्रैमासिक आदि परीक्षाओं द्वारा किए गए काम की जाँच करना। वर्षान्त में बाह्य परीक्षाओं द्वारा जाँच किया जाना आदि प्रथाएँ प्रचलित हैं।

परीक्षाओं में प्राय: ये उद्देश्य होते हैं :—

(१) निर्धारित पाठ्यक्रम को सफलतापूर्वक समाप्त करने की जाँच। इसके द्वारा शालाओं में एक निश्चित स्तर की जाँच की जा सकती है। प्रगति के मूल्याङ्कन के लिए एक मापदण्ड आवश्यक है। इसके द्वारा विद्यार्थियों और शालाओं की तुलनात्मक प्रगति का भी परिचय मिलता है जो उनको आगे प्रगति करने की प्रेरणा देता है और आवश्यक सुधारों को अवसर देता है।

(२) विद्यार्थियों को उच्च-शिक्षा के लिए प्रवेशहेतु जाँच की जाती है। यह तो साफ ही है कि किसी शिक्षाविशेष के लिए एक निर्धारित योग्यता की आवश्यकता होती है। आजकल इस बात पर अधिक जोर दिया जाने लगा है कि प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी आवश्यकता, रुचि और योग्यता के अनुसार शिक्षा दी जाय और प्रगतिशील देशों में इन बातों की जाँच के साधन भी बना लिए हैं। ऐसी दशा में बालक की क्षमता और मनोवृत्ति ही प्रधान वस्तु हो जाती है। इसी में अधिक-से-अधिक बालकों को उनकी रुचि, योग्यता और मनोवृत्ति के अनुसार अनुकूल दिशा में प्रगति का अवसर मिलता है।

(३) तीसरा उद्देश्य बालकों को उनकी योग्यता के क्रमानुसार चुनने का होता है जिसका विशिष्ट उद्देश्यों से चयन करने की आवश्यकता होती है।

(४) चौथा उद्देश्य एक पाठशाला के तथा वहां के शिक्षकों के कार्य की जाँच करने का है। जिससे पाठ्य-वस्तु, पाठ्य-प्रणाली तथा शिक्षा-पद्धति में आवश्यक सुधार किए जा सकें, नवीन प्रयोगों को स्थान मिल सके और उनका मूल्याङ्कन भी किया जा सके।

परीक्षा-प्रणाली के दोष:—

(१) शाला के काम पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। बाह्य-परीक्षा का प्रभाव पाठ्य-वस्तु पद्धति और पढ़ने-पढ़ाने वाले दोनों की ही मनोवृत्ति पर पड़ता है। उनकी सोचने की, अध्ययन की और भाव व्यक्त करने की पद्धति ही

बदल जाती है। इन परीक्षाओं की कठोरता के कारण पाठ्यक्रम व पाठ-पद्धति में से लचीलापन व सुधार की भावना ही चली जाती है और शिक्षा में बदले हुए जमाने के अनुसार अपने समाज की सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन भी नहीं होने पाता है। पाठ्य विषयों पर अधिक बल दिया जा रहा है और वे प्रवृत्तियाँ जो बालकों के विकास में वास्तविक रूप से सहायक होती हैं उपेक्षित रहती हैं। परीक्षाएँ स्वयं बालकों की योग्यता को नापने, का साधनमात्र के स्थान पर स्वयं ही साध्य हो जाती हैं। शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही इस धारणा के हो जाते हैं। शिक्षा का उद्देश्य परीक्षा ही पास करना है न कि योग्यता प्राप्त करना। शिक्षक भी शिक्षा-सिद्धान्तों की उपेक्षा करने लगते हैं और प्रायः बाह्य परीक्षाओं के प्रश्न-पत्रों की शैली पर ही अपने शिक्षण को आधारित करते हैं। कुछ वर्षों के प्रश्न-पत्रों की तैयारी ही शिक्षा का स्थान ले लेती है। मौलिकता, विचार-स्वातन्त्र्य, तर्क-बुद्धि आदि चारित्रिक गुणों का विकास रुक जाता है।

(२) परीक्षाओं द्वारा शिक्षा के उच्च उद्देश्यों की पूर्त्ति की जाँच नहीं हो पाती है। पुस्तकीय ज्ञान तथा मस्तिष्क की स्मरण-शक्ति की जाँच के अतिरिक्त बालकों की अन्य आन्तरिक शक्तियों की तथा चारित्रिक गुणों की जाँच नहीं होने पाती है जो कि शिक्षा का मूल उद्देश्य है। मनुष्य की उन उपयोगिताओं की जाँच भी नहीं हो पाती है जिनपर जीवन की सफलता निर्भर है और जिनकी अभिरुचि शाला के जीवन में होती है। उदाहरणार्थ विचार-शक्ति, तर्क-शक्ति, प्रत्युत्पन्नमति, धैर्य, लगन, सहयोग, सहानुभूति, सौन्दर्योपासना, नम्रता आदि व्यक्तित्व के गुणों का कोई मूल्यांकन नहीं हो पाता है।

(३) परीक्षाएँ अपर्याप्त हैं और विश्वसनीय नहीं हैं:—कतिपय प्रश्नों के द्वारा बालक की संपूर्ण योग्यता की जाँच संभव नहीं है। बालक के ज्ञान के भण्डार का नमूना ही देखा जा सकता है। इसमें कभी-कभी परीक्षा के प्रश्न जुए की तरह ही रहते हैं। तीन घण्टे में पूरे वर्ष के पाठ्यक्रम की जाँच कैसे हो सकती है? साथ ही वह तो स्मरण-शक्ति की ही जाँच है न कि इस बात का प्रमाण कि विद्यार्थी स्वतन्त्रता से प्राप्त ज्ञान का जीवन में उपयोग भी कर सकता है या नहीं। संयोगवश हाल ही में तैयार किए हुए प्रश्न आ जाने पर कमजोर बालक अधिक अंक पा सकते हैं और वास्तविक तैयारीवाले बालक को यह लाभ नहीं मिल सकता। जल्दी थकनेवाले, भय खानेवाले बालकों को यह

उनकी दूसरी असुविधा रहती है। यदि अंक देने की प्रथा पर विचार किया जाय तो इसमें परीक्षक पर ही अधिक निर्भर रहता है। परीक्षक भी उत्तर के लिए स्वयं की कल्पना, उसका स्वयं का मापदण्ड, उस समय की मनोवृत्ति, उत्तरों में विषय की जानकारी, तर्कवस्तु का प्रस्तुतीकरण, व्यवस्था, भावाभिव्यक्ति, लेखन-शैली, विषय प्रतिपादन शैली आदि गौण रूप से परीक्षक पर ही निर्भर रहते हैं। परीक्षक की जाँच, उसकी समय-समय की मनोवृत्ति, थकान, उत्तर-पुस्तिकाएँ जाँचने के बाद की धारणा आदि पर अवलम्बित रहती है।

(४) कभी-कभी विद्यार्थियों पर शारीरिक, मानसिक और नैतिक दुष्प्रभाव भी पड़ता है। बालक के मस्तिष्क पर केवल रटने का ही आवश्यक भार नहीं पड़ता वरन् कभी बालक परीक्षा में सफल होने के उद्देश्य से अनैतिक मार्ग को भी अपनाने में संकोच नहीं करता है। दिन-प्रति-दिन की प्रगति पर ध्यान न रखते हुए मानसिक श्रम केवल परीक्षा के ही दिनों में केन्द्रित कर दिया जाता है जिससे स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव पड़ता है।

(५) परीक्षाओं में निश्चित उद्देश्यों का न होना भी एक बड़ी कमी है। बालक भी उद्देश्यरहित काम करते हैं। शिक्षकों का भी यही हाल होता है और परीक्षकों के सामने भी शिक्षा का कोई उद्देश्य ही रहता है। शिक्षा का जीवन में उपयोग है तो उसकी उपयोगिता की योग्यता की जाँच होना चाहिये।

(६) परीक्षा में प्राप्त अंकों के आधार पर बालकों को उत्तीर्ण करने की पद्धति केवल यांत्रिक है। इस सम्बन्ध में लोगों का मत है कि जो बालक असफल हो जाते हैं उनपर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। उनको उसी वर्ग में रहकर अपने से छोटे बालकों के साथ अध्ययन करना पड़ता है। ऐसे अनुत्तीर्ण बालक न केवल असफलता के कारण पीछे रह जाते हैं बल्कि वे अपने सम्पर्क से छोटे बालकों का भी वातावरण बिगाड़ सकते हैं। रोके गये बालकों तथा उत्तीर्ण होकर आये हुए बालकों की मनोभावना में बड़ा अन्तर होता है। नवीन आये हुए बालक उत्साह व उमंग से भरे रहकर नये वर्ग के काम को लगन से करते हैं, परन्तु उन्हीं के साथ के अनुत्तीर्ण बालक उसी काम से, जिसे वे साल भर से करते आये हैं, उदासीन रहते पाये जाते हैं।

परीक्षा पद्धती में क्या सुधार किये जायें:—

(१) शिक्षकों का चुनाव कभी-कभी ऐसे परीक्षकों को नियत कर दिया

जाता है जिनको शिक्षण का कोई अनुभव नहीं होना है। शिक्षा-सिद्धान्त और शिक्षा-प्रणालियों से भी परिचय नहीं होता है। प्रशिक्षण द्वारा शिक्षण-कार्य की विशेष योग्यता का अभाव रहता है। जिनको बालकों की मनोवृत्ति, प्रवृत्तियों, आदतों, स्तर और योग्यता का परिचय नहीं होता है। इस दृष्टि से सबसे अच्छे परीक्षक तो वही शिक्षक हो सकते हैं जिन्होंने उनको पढ़ाया है और जो उन्हें भली प्रकार जानते हैं। इसलिए आज-कल यह धारणा जोर पकड़ रही है कि जाँच में आन्तरिक और बाह्य दोनों ही परीक्षाओं का समावेश होना चाहिये। आन्तरिक परीक्षा द्वारा बालक की नियमित प्रगति का परिचय प्राप्त होगा और बाह्य परीक्षा द्वारा उसकी स्वतन्त्र जाँच होगी। कभी-कभी परिचित शिक्षक के पक्षपातपूर्ण व्यवहार का भी भय रहता है जिसमें अनावश्यक लाभ व हानि की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा में बाह्य परीक्षक संतुलन का काम करता है। शाला में नियमित रूप से रखे गये रेकार्ड, आलेख इस कार्य में बड़े सहायक होते हैं। विद्यार्थी द्वारा तथा शिक्षण द्वारा दोनों का ही रिकार्ड (लेखा) रखने को उपयोगी है।

(२) लेखी परीक्षा के साथ मौखिक परीक्षाओं का भी समावेश हो। कोई विद्यार्थी लिखने में व कोई बोलने में कुशल होते हैं। इसलिए विद्यार्थी की दोनों प्रकार की योग्यताओं की जाँच हो सके। परीक्षा में मौखिक परीक्षा का भी स्थान होना चाहिये। इसमें कभी-कभी प्रश्नों में अन्तर होता है और परीक्षक के पूछनेका ढंग, आवाज आदि भी अपना प्रभाव रखते हैं। कुछ विद्यार्थी मौखिक परीक्षा में भावात्मक संतुलन खो बैठते हैं। यह सब होते हुए भी मौखिक परीक्षा एक परीक्षा का मुख्य अंग है। इसके द्वारा बालक के व्यक्तित्व, चुस्ती, बुद्धि की कुशाग्रता, प्रत्युत्पन्नमति, मानसिक दृष्टिकोण, मानसिक व चारित्रिक गुण, और प्राप्त ज्ञान पर अधिकार का जाँच हो जाती है जो केवल लेखी जाँच से नहीं हो सकती है। बालकों के सभाओं में विशेष अवसरों पर भाषण, शाला-पत्रिका में सहयोग, बाल-सभा का संचालन आदि बालक की जाँच के अच्छे अवसर प्रस्तुत करते हैं।

(३) बालकों के तथा शाला द्वारा रखे गये रिकार्ड बालक की नियमित प्रगति का परिचय प्राप्त करने का अच्छा साधन है। इसके द्वारा बालक की योग्यता, ज्ञान प्राप्ति और उसके व्यक्तित्व की जाँच ठीक-ठीक हो जाती है। यह रिकार्ड नियमित रखे जाते हों और उनकी जाँच भी की जाती हो। बालक के

आरम्भ से ही यदि यह रिकार्ड रखा जा सके तो बालक की रुचि, आवश्यकता, मनोवृत्ति, चरित्र-गठन आदि की प्रगति का विस्तृत परिचय मिलता रहता है और तदनुसार बालकों का समुचित मार्गदर्शन भी हो सकता है।

(४) बालकों को दिये जानेवाले प्रश्नों में भी सुधार की आवश्यकता है। यह बालकों के स्तर, उनकी योग्यता और उनके क्रमिक विकास के अनुसार ही होना चाहिये। प्रश्न केवल स्मृति की ही जाँच न करें, वरन् बालक के ज्ञान और विवेक की जाँच करें। कुछ प्रश्न ऐसे भी हों कि यदि बालकों को उनकी पाठ्य पुस्तकें भी दे दी जायँ तो भी बालक अपने स्वयं के ज्ञान-भण्डार का ही उपयोग कर उनको हल कर सकें। प्रश्नों द्वारा यह भी जाँचा जा सकता है कि विद्यार्थी ने विषय की तैयारी किस प्रकार की है। पाठ्यक्रम के प्राय: सब ही अंगों का समावेश हो तो भी विषय के महत्त्वपूर्ण और उपयोगी अंगों का विशेष ध्यान रखा जाय। प्रश्न ऐसे हों जिनसे अच्छी पाठन-पद्धति को प्रोत्साहन मिले। परीक्षा में "भाग्य भरोसे" की बात की सम्भावना कम-से-कम हो। विद्यार्थियों को अपनी विभिन्न रुचियों की पूर्ति के लिए चयन करने को काफी संख्या में प्रश्न दिये जायें।

(५) उत्तर-पुस्तकों के मूल्यांकन में समानता होना चाहिये। प्रधान परीक्षक व सहायक परीक्षकों के बीच प्रश्न उसके खण्ड, उसका विषय, उसकी प्रक्रिया आदि भिन्न-भिन्न अंगों के लिए एक निश्चित अंक संख्या निर्धारित की जाय। यह भी अधिक सुविधाजनक होता है कि अंक देने के स्थान पर अ, ब, स, द आदि श्रेणियाँ ही दी जायें। किन्तु अधिक संख्या में विद्यार्थियों के तुलनात्मक परीक्षाफल के लिए यह सुविधाजनक नहीं होता है। दो परीक्षकों के बीच औसत निकालने में यह अच्छा ढंग है।

(६) रूढिगत परीक्षाओं के साथ मानसिक जाँच का भी स्थान हो सकता है। विशेषकर उन विद्यार्थियों के लिए जिनको सामुख्य द्वारा उच्च शिक्षा अथवा शाखा विशेष के लिए चुना जाना है। यह पद्धति उन विद्यार्थियों की जाँच के लिए भी हो सकती है जो बहुत ही कम अंकों से अनुत्तीर्ण हुए हों। मानसिक जाँच के छोटे-छोटे प्रश्नों द्वारा यह कार्य हो सकता है।

(७) पब्लिक परीक्षाओं को कम किया जाना भी आवश्यक है। इसके अनावश्यक प्रभाव से पाठ्यक्रम-शिक्षण, पद्धति भी दूषित होती है और बालकों को वास्तविक योग्यता प्राप्त करने में न्याय नहीं हो पाता है। इसलिए प्राय:

सब ही शिक्षा-शास्त्री एक मत हैं कि माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति पर ही एक पब्लिक परीक्षा हो।

(८) कभी-कभी यह भी सुझाव रखा जाता है कि वर्गीकरण परीक्षाओं के आधार पर न करते हुए अवस्था के आधार पर किया जाना जाहिये। इससे यह लाभ होगा कि पिछड़े हुए तथा असफल बालक आगे खींच लिए जायेंगे और ऊपर बताये गये दोनों दोषों का परिहार हो सकेगा। किन्तु प्रश्न यह है कि जो बालक उचित परिश्रम तथा अध्ययन नहीं करता उसे प्रोत्साहन देना क्या उचित होगा। कुछ लोगों का मत यह भी है कि एक वर्ग के उप-विभाग कर दिये जायें ताकि छोटे व नये आये हुए बालक तथा बड़े व अनुत्तीर्ण बालक अलग-अलग रखे जा सकें। किन्तु ऐसा करने में अधिक शिक्षकों की और उसी अनुपात में अधिक धन की आवश्यकता स्वयं सिद्ध है जो इन दोषों से मुक्त हो।

जाकिर हुसेन कमेटी ने यह तजवीज रखी है कि परीक्षाओं के सम्बन्ध में स्कूल के काम की शासकीय जाँच-पड़ताल की जाए, जिसमें नमूने के तौर पर बालकों के एक चुने हुए ग्रुप की जाँच की जाकर उसकी सही-सही योग्यता का अनुमान लगाया जा सके। जहाँ तक सम्भव हो उसमें पाठ्यक्रम के सभी विषयों का सांगोपांग समावेश हो। इस प्रकार स्कूल की शिक्षण-पद्धति का विकास होगा। जाँच-पड़ताल का काम शिक्षा-समिति के निरीक्षकों तथा शिक्षा-क्रम निर्धारित करनेवाले विशेषज्ञों द्वारा होना चाहिए।

एक कक्षा से दूसरी कक्षा में उत्तीर्ण किए जाने का निर्णय पढ़ानेवाले शिक्षकों द्वारा रखे गए विद्यार्थी के रिकार्ड के आधार पर किया जाना चाहिए। निरीक्षक प्रत्येक कक्षा की योग्यता की उचित देख-भाल अवश्य करेंगे। यदि किसी कक्षा में अधिक विद्यार्थी असफल होते हैं तो शिक्षक के काम की और यदि सारे स्कूल में ही असफल बालकों की संख्या अधिक है तो पाठशाला के प्रशासन की जाँच की जाना चाहिए। यदि पूरे क्षेत्र के स्कूलों में असफल बालकों की संख्या अधिक हो तो शिक्षाक्रम में संशोधन करने की आवश्यकता है।

अच्छा तो यह हो कि समय-समय पर शिक्षकों द्वारा अपेक्षित योग्यता की तुलना में बालकों की वास्तविक योग्यता की जाँच की जाती रहे, और इस प्रकार जो रिकार्ड तैयार हो उसी के आधार पर उन्हें अनुत्तीर्ण अथवा उत्तीर्ण घोषित किया जाता रहे। इस प्रकार बालक सदैव सतर्क रह कर अपेक्षित योग्यता के सम्पादन का प्रयत्न करते रहेंगे और सच पूछा जाय तो परीक्षा का

सच्चा उद्देश्य भी यही जाँच करना है कि बालक अपने प्रयत्नों में कहाँ तक सफल हुए हैं। अपने दायित्व के प्रति जागरूक शिक्षक तो प्रतिदिन और प्रति-समय अपने विद्यार्थियों की परीक्षा लेते ही रहते हैं।

बुनियादी विद्यालयों में परम्परागत विद्यालयों जैसा केवल वार्षिक परीक्षाओं का विधान नहीं होना चाहिए। नई तालीम में परीक्षाओं की उच्छृङ्खलता तथा अनिश्चितता को कम किए जाने का प्रयत्न किया गया है। काम और जीवन की नियमितता पर बल दिया गया है। कार्य योजनाबद्ध निर्धारित लक्ष और उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए किया जाता रहे। कार्य की सफलता और उसके साथ प्राप्त ज्ञान का भण्डार ही जाँच की कसौटी होगी। यही परीक्षा अथवा समीक्षा का स्वरूप है। आत्म-परीक्षण का स्थान ऊँचा रखा गया है और बाह्य परीक्षण का गौण। इस आत्म-परीक्षण का मूलाधार यह है कि हमारे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति में हम कहाँ तक सफल हो सकते हैं। जीवन के सफल संचालन के लिए हमें कुछ जीवनोपयोगी संयोजन करना पड़ते हैं जिनमें हमारी मूल आवश्यकताएँ भोजन, वस्त्र और आवास से सम्बन्ध रखती हैं। इन्हीं के साथ जीवन की परिपूर्णता के लिए सामाजिक, रचनात्मक सृजनात्मक, सांस्कृतिक, कलात्मक तथा आध्यात्मिक विकास के संयोजनों की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार की सउद्देश्य निश्चित योजना बनानी होगी। इस योजना को कार्यान्वित करने में अनेक-अनेक प्रकार का ज्ञान स्वयं के स्वाध्याय और शिक्षक के मार्गदर्शन तथा पारस्परिक विचार-विमर्श से प्राप्त होगा। इस प्रकार उनका दिन-प्रतिदिन का कार्य, उसका लेखा, उसके आलेख, उनके क्रिया-शीलन और ज्ञानार्जन की सफलता की जाँच में समीक्षा का काम करेंगे। शिक्षक द्वारा रखे गए आलेखों और नित्य-प्रति के रिकार्ड के आधार पर प्रगति का मूल्यांकन विद्यार्थी की स्वयं की आत्म-समीक्षा के साथ किया जा सकेगा। यह बालकों को उनकी आत्मोन्नति का साधन होगा। इस प्रकार यदि शिक्षक और शिक्षार्थी का पारस्परिक प्रयत्न रहे और शिक्षक स्वयं अपना आदर्श उपस्थित करते हुए सहृदयतापूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण, नियमित, निष्पक्ष और योग्यतापूर्ण मार्गदर्शन करे तो बच्चों का आत्म-परीक्षण पुष्ट, सुदृढ़ और निश्चयात्मक रहेगा।

नई तालीम में शिक्षा का आधार केवल पुस्तकीय न होकर व्यावहारिक संबंधी जीवन क्रियाएँ हैं। अतः शिक्षार्थी की प्रगति का मूल्यांकन करते समय उनके

ज्ञान-खण्ड की जाँच के साथ-साथ उनकी व्यावहारिक योग्यताओं का लेखा लिया जाना भी आवश्यक है। प्राप्त ज्ञान का उपयोग जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में किस प्रकार किया गया है और वह उसके जीवन का स्थायी अंग किस अंश तक बन पाया है ? शिक्षा-योजना में शिक्षक और शिक्षार्थी के सामूहिक प्रयत्न पर भी बल दिया गया है। अतएव प्रगति का मूल्यांकन करते समय भी शिक्षक और शिक्षार्थी अपने कार्यों की समीक्षा करते हैं। इस प्रकार वार्षिक समीक्षा के दो अंग हैं:—

(१) विद्यार्थियों और शिक्षकों द्वारा समीक्षा, (२) साल भर रखे गए आलेखों का और विवरणों का मूल्यांकन ।

इसके प्रथम अंग की पूर्ति के लिए शिक्षार्थी स्वयं अपनी साल भर की प्रगति का एक विवरण प्रस्तुत करेगा जिसका प्रारूप नीचे दिया जा रहा है । शिक्षक भी विद्यार्थी के सम्बन्ध में अपनी समीक्षा तैयार करेंगे । समीक्षा-समिति इन विवरणों पर विचार कर अपना प्रतिवेदन तैयार करेगी । दूसरा अंग है शिक्षकों और विद्यार्थियों द्वारा रखे जानेवाले विवरण तथा आलेख जो समीक्षा सहायक होते हैं। विद्यार्थियों के दैनिक कार्यक्रम की डायरी, मासिक रिपोर्ट, सामाजिक कार्य, मन्त्रीपद से की गई सेवाएँ, सेवा-कार्य, सांस्कृतिक कार्यक्रम, स्वास्थ्य एवं सफाई, उद्योगों में प्रगति, स्वाध्याय एवं अध्ययन का लेखा, उसका समाज के प्रति व्यवहार व समाज की उसके सम्बन्ध में सम्मति । जहाँ एक ओर विद्यार्थियों द्वारा यह आलेख प्रस्तुत होंगे वहाँ इनसे सम्बन्धित प्रतिवेदन शिक्षकों द्वारा भी रखा जावेगा। उदाहरणार्थ सांस्कृतिक कार्यक्रम में व्यवस्था, कला-कुशलता के साथ विद्यार्थी की मौखिक भावाभिव्यक्ति द्वारा उसके विषय तथा भाषा के अध्ययन का परिचय प्राप्त हो सकता है। ठीक उसी प्रकार शाला की मासिक-पत्रिका द्वारा उसकी लेखन-शैली, भाषा, भाव एवं विषय की तैयारी का अनुमान लगाया जा सकता है। यह है उसकी प्रगति की स्वाभाविक जांच। अधिक-से-अधिक ऐसे अवसर समस्त विद्यार्थियों को प्रस्तुत किए जाने चाहिए जिससे उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान खण्ड का व्यवहारिक उपयोग देखकर उनकी वास्तविक प्रगति की जाँच की जा सके। प्रत्येक बालक भिन्न होता है। उसकी पृथक् विशेषताएँ होती हैं। उसके विकास एवं प्रगति का समुचित मूल्यांकन आवश्यक है। योजना इस प्रकार की हो कि बालक की शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक प्रगति का ठीक-ठीक मूल्यांकन हो सके। उसकी

सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र की तैयारी का अनुमान लागाया जा सके। जाँच के भी ऐसे मापदन्ड तैयार करना होंगे जिनके द्वारा विद्यार्थियों के इन गुणों की निष्पक्ष जाँच की जा सके। इस क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं के लिए खोज का यह एक विशेष क्षेत्र है।

विद्यार्थी की आत्मसमीक्षा के प्रारूप सम्बन्धी एक सुझाव नीचे दिना जा रहा है:—

(१) विद्यार्थी का नाम, उम्र एवं उपस्थिति।

(२) स्वास्थ्य.—वजन, ऊँचाई, सीने की नाप (वर्ष के आरम्भ में व अन्त में), वर्ष में स्वास्थ्य की दशा, बीमारियाँ, शारीरिक श्रम करने की क्षमता, देखने-सुनने की शक्ति का विशेष विवरण (यदि आवश्यकता हो), स्वास्थ्य-विषयक नया ज्ञान।

(३) सफाई.—(अ) व्यक्तिगत सफाई की दैनिक चर्चा, (ब) सामूहिक सफाई मंत्री के रूष में, दल-नायक के रूप में, सामूहिक सेवा के रूप में, सफाई-विषयक प्राप्त नया ज्ञान।

(४) उद्योग कार्य.—किस-किस उद्योग में कितना समय, कितना काम, कितना उत्पादन, उसके द्वारा कितनी आय (कच्चे माल का मूल्यांकन एवं उत्पादन का मूल्यांकन), उद्योग द्वारा प्राप्त नवीन ज्ञान।

(५) स्वावलम्बन.—किन-किन व्यक्तिगत कार्यों में स्वावलम्बी है ? किन-किन घरेलू कार्यों में सहयोग देते हैं ? किन-किन सामाजिक कार्यों में भाग लेते हैं ? अन्न-वस्त्र एवं अन्य निर्माण-कार्यों में अपनी आवश्यकता के किस अंश तक की पूर्त्ति कर सकते हैं ? प्रति दिन श्रम-कार्यों में आप कितना औसत समय देते हैं ?

(६) सांस्कृतिक एवं आनन्द-विधायक कार्यक्रम.:—साहित्य, कला, संगीत, अभिनय, नृत्यकला आदि के कार्यक्रमों में भाग। उत्सवों तथा त्योहारों के आयोजन में व्यवस्था कार्य।

(७) स्वाध्याय.—किन-किन पुस्तकों से किन-किन विषयों का अध्ययन किया, पुस्तकों की सूची, संदर्भित पृष्ठ व शीर्षक, इनके आधार

पर जो लिखित सामग्री तैयार की गई उसका उल्लेख (उपसंहार तथा अन्य टिप्पणियाँ यदि आवश्यक हों)।

परीक्षा सम्बन्धी कुछ अन्य सुझाव नीचे दिये जा रहे हैं:—

मातृ भाषा:—

तीनों बातें ध्यान में रखी जायें, (१) मौखिक भावव्यक्ति तथा, (२) लेखी भावव्यक्ति, (३) लेखी तथा मौखिक भाषा को समझना। इस दृष्टि से छोटी कक्षाओं में मुखाग्र पाठ तथा बड़े कक्षाओं में वाद-विवाद तथा भाषण आदि को स्थान दिया जाय। भाषा के भावों की अभिव्यक्ति तथा समझ के साथ ग्रहण-शक्ति की जाँच के लिए लेखी जाँच को भी स्थान दिया जाय। इस दृष्टि से गद्य-पाठन, पढ़े हुए अवतरण का सारांश देना, कविता-पाठ करना, कविता का भाव समझना तथा रसास्वादन लेना, किसी विषय पर चर्चा, लिखित पत्रिका-प्रकाशन, उत्सवों, त्योहारों व सांस्कृतिक आयोजनों द्वारा द्वारा पर्याप्त अवसर मिलते हैं।

गणित:—

उच्च कक्षाओं में उत्तर की सत्यता तथा गति पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। छोटे (१—३) कक्षाओं में गति की अपेक्षा क्रिया की सत्यता पर बल दिया जाय। गणित में गणित के नियमों को समझकर उनका वह नित्य की समस्याओं को हल करने में कहाँ तक उपयोग कर सकता है इसकी जाँच की जाय।

सामाजिक अध्ययन:—

विद्यार्थियों द्वारा रखे गए नोट्स बालकों के मूल्यांकन में बड़े सहायक समझे जाएँ। बच्चे समवायी पाठों के नोट रखें तथा ऊँची कक्षाओं में कक्षा के संदर्भित विषय पर लायब्रेरी से पढ़ी गई पुस्तकों के आलेखों को भी स्थान दिया जाय। शिक्षकों द्वारा उनकी उचित जाँच की आवश्यकता है। इसकी जाँच के लिए कभी-कभी मौखिक तथा लेखी (Oral and Written) जाँच भी रखी जाय। बालकों के स्कूल में व बाहर सामाजिक, व्यावहारिक तथा मनो-वृत्ति का रिकार्ड (लेखा) भी रखा जाना उचित होगा।

सामान्य विज्ञान:—

इस विषय में भी समय-समय पर ली गई जाँच व आलेखों के आधार पर मूल्यांकन किया जाय। इस विषय में आलेख तथा दिए हुए काम की पूर्ति

दोनों ही का लेखा रखा जाय। घर व स्कूल में किए गए प्रयोग, परीक्षण व निरीक्षण का ब्यौरा रखा जाय। सामाजिक ज्ञान की भाँति इस विषय में भी समझदारी की जाँच के लिए मौखिक जाँच को भी स्थान दिया जा सकता है।

कला तथा संगीत:—

कला व सँगीत की जाँच के लिए शाला के विशेष आयोजन अच्छा अवसर प्रस्तुत कर सकते हैं।

(१) सामूहिक रूप से राष्ट्रीय और भक्ति-भावों के गीतों में भाग लेना।
(२) त्योहार व उत्सवों का आयोजन और उनमें कलात्मक सजावट।
(३) सांस्कृतिक कार्यक्रम।
(४) प्रदर्शनी।

उद्योग:—

इसमें विद्यार्थी व शिक्षकों द्वारा दैनिक व मासिक रिकार्ड रखे जाएँ व किए गए काम उसमें कुशलता तथा गति आदि का लेखा रखा जाय। इसका अर्थ यह है कि उद्योग का रिकार्ड काफी विस्तृत होगा। बच्चों की आदतों व मनोवृत्तियों का भी लेखा रखा जाय। आमदनी व खर्च का भी पूरा-पूरा रिकार्ड रखा जाय। यदि उद्योग का ठीक-ठाक रिकार्ड रखा गया गया है तो वार्षिक परीक्षा की कोई आवश्यकता न होगी। उदाहरणार्थ कृषि में बीजों की, खाद, पौधों की बीमारियों की, कीड़े-मकोड़ों की पहचान, जमीन जोतना, बखर करना, चरस चलाना, क्यारी व तख्ते तैयार करना, खेती के मवेशियों तथा मुर्गी आदि की पहचान, पौधों की काट-छाँट, कलम, फैलाना आदि व्यावहारिक कार्यों को भी जाँच की योजना में उचित स्थान मिल सकेगा।

वार्षिक उद्योग-प्रदर्शनी भी अच्छा साधन है। व्यक्तिगत प्रेरणा के साथ कक्षा की व शाला की प्रगति की अच्छी जाँच हो सकती है। इसमें शिक्षकों का स्वयं का कार्य भी आदर्श के रूप में होगा।

शाला का सामाजिक जीवन:—

विद्यार्थी ने सामाजिक कार्यों में कितना भाग लिया है इसका ठीक-ठीक मूल्यांकन हो, (१) स्कूल की सजावट, (२) सफाई व स्वच्छता (३) पानी व्यवस्था, (४) अल्पाहार या भोजन-व्यवस्था, (५) स्कूल, पुस्तकालय व वाचनालय व्यवस्था, (६) प्रभात-फेरी व्यवस्था व झण्डा फहराना, (७) पर्यटन व भ्रमण व्यवस्था, (८) उत्सव व त्योहार व्यवस्था (९) प्रदर्शनी व्यवस्था,

१०) मनोरंजन व खेलों का आयोजन, (११) ग्रामीण मनोरंजन व्यवस्था, (१२) रिकॉर्ड, उनकी सम्पूर्णता, नियमितता, व्यवस्था और स्वच्छता।

चरित्र व व्यक्तित्व की जाँच—(१) पाठ की तैयारी में नियमितता, (२) परीक्षा में ईमानदारी, (३) आज्ञा-पालन, (४) स्कूल की वफादारी, (५) खेतों में ईमान- दारी, (६) सच्चाई, (७) पैसों के मामले में सच्चाई, (८) लड़कियों की इज्जत, (९) विचार व बोली में पवित्रता, (१०) शारीरिक, वस्त्रों की तथा कमरों की सफाई, (११) बीमारों की सेवा, (१२) दया व सहयोग की भावना, (१३) सत्य की रक्षा को साहस, (१४) कार्य में रुचि।

व्यक्तित्व का विकास:—

(१) जिज्ञासा, निरीक्षण, स्मरण-शक्ति, कल्पना तर्क, व न्याय-शक्ति का विकास।

(२) भावात्मक शिक्षण, सामाजिक गुण, सहयोग, सहायता, सब्र, संतोष, सहिष्णुता, हमदर्दी, सहानुभूति, सभ्यता, कृपा (दया), सेवा, वफादारी।

(३) नैतिक विकास, ईमानदारी, न्याय, पवित्रता और साहस।

(४) व्यक्तिगत विकास, युक्तिवाद, मौलिकता, आत्मनिर्भरता, नेतृत्व, उत्तरदायित्व, कर्त्तव्य, प्रसन्नता, दृढ़ता आदि। सौन्दर्य की पहचान व प्रतिक्रिया।

शाला-भवन, भूमि और सामान-सज्जा

लोकतन्त्र को राजनैतिक भाषा में जनता का राज्य, जनता द्वारा और जनता के लिए कहा गया है। इसलिए देश की सर्वतोमुखी उन्नति में जनता का हाथ होना आवश्यक है। भारतीय लोकतन्त्र के विधान निर्माताओं ने भी यह अनुभव किया है कि राष्ट्रीय शिक्षा की योजना न केवल किसी वर्गविशेष के लिए ही हो वरन् सार्वजनिक हो। इसी दृष्टि से विधान में १४ वर्ष तक के बाल-बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा द्वारा १० वर्ष की अवधि में शिक्षित किए जाने का उल्लेख है। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कितने शाला-भवनों की आवश्यकता होगी और क्या राज्य सरकार इसकी पूर्त्ति कर सकेगी। ऐसा नहीं है कि इसके पूर्व भी इस समस्या पर विचार न किया गया हो। परतन्त्रता के पूर्व के शिक्षा के इतिहास के पृष्ठों को उल्टा-पल्टा जाय तो शिक्षण-सुविधाएँ और शिक्षा का प्रतिशत निराशाजनक न था और उसके चारों ओर की दुनिया थी ज्ञान की प्रयोगशाला। प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण के अनुभव सजीव ज्ञान के साधन थे। इस प्रकार के असंख्य विद्यालय सारे देश में बिखरे पड़े थे। गुरू के निवास के चारों ओर शिक्षालय और शिक्षार्थी घूमते थे और आज की बदली हुई परिस्थिति में शिक्षालयों के चारों ओर शिक्षकों को घूमना पड़ रहा है। देश की परतन्त्रता के युग में शिक्षा-संगठन को केन्द्रित किया जाकर शिक्षा का उद्देश्य सार्वजनिक शिक्षा द्वारा समाज-निर्माण न होकर केवल शासन की आवश्यता-पूर्त्ति ही रहा। इसीलिए शासन द्वारा उसे अपने नियन्त्रण में लिया गया। परिणाम यह हुआ कि देश भर में बिखरे हुए स्वतन्त्र रूप से स्वयंप्रेरित एवं स्वयं-संचालित शिक्षालयों का अस्तित्व मिट गया। आज फिर आवश्यकता यह है कि गाँवों-गांवों और मुहल्लों-मुहल्लों में पाठशालाएँ हों और विधान द्वारा निर्धारित लक्ष्य की पूर्त्ति की जाय।

राज्य सरकारों की सीमा को देखते हुए यह आवश्यक है कि शिक्षा के लिए जागरूक जनता की उमंग, उत्साह और सहयोग का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय। जिस प्रकार की भी सहायता उपलब्ध हो—धन के रूप में, श्रम के

रूप में अथवा सामग्री के रूप में उस सबका समुचित उपयोग हो। इसका अर्थ यह भी हुआ कि जहाँ तक हो सके शाला-भवन सादा, उपयोगी, सुरुचि का नमूना और जहाँ तक हो सके स्थानीय उपलब्ध सामग्री द्वारा निर्मित किया गया हो। स्वर्गीय शिक्षा-मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने यह कहा था कि भव्य शिक्षा-भवनों पर धनराशि व्यय करने की अपेक्षा उत्तम शिक्षकों और पाठन-सामग्री पर व्यय किया जाना अधिक लाभकारी है। आवश्यकता यह है कि शिक्षकों के रहने को आवास की, शिक्षण सामग्री रखने की तथा मौसम के प्रभाव से बालकों को बचाने की सुविधा हो। उनका यह भी सुझाव था कि शाला का अवकाश मौसम की आवश्यकतानुसार किया जाय। जहाँ आवश्यक हो वहाँ शाला को दो पालियों में लगाया जाय।

प्रश्न यह होता है कि शाला भवन कैसा हो? लोकतन्त्र के लिए केवल पुस्तक-केन्द्रित शिक्षा अपर्याप्त है। उसके सफल संचालन के लिए क्रियात्मक, सृजनात्मक तथा व्यावहारिक शिक्षा की आवश्यकता है, जिसका उपयोग बालकों को उनके सामाजिक जीवन में हो। राष्ट्रीय शिक्षा का आधार देश की सांस्कृतिक परम्पराएँ, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति होना चाहिए। इसी दीर्घसूत्री विचार ने राष्ट्रपिता को बुनियादी शिक्षा के प्रवर्तन के लिए प्रेरित किया, जिसके अनुसार अहिंसात्मक, शोषणरहित और सहयोगी समाज का निर्माण किया जाना है, जिसमें वर्ग, जाति और धर्म के भेदभाव से रहित होकर सबको समान अवसर प्राप्त हो सके। इसके लिए उत्पादक समाजोपयोगी उद्योग को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया है, जिसके द्वारा बालक शाला के अन्य विषयों का भी अध्ययन करेंगे, जिनका सम्बन्ध उनके प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण से है। इसलिए शाला एक जीवित क्रियात्मक समाज के रूप में आयोजित की जायगी। जिसकी प्रवृत्तियाँ बालकों के दैनिक जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भौतिक वातावरण से सम्बन्धित होंगी। इस परिवर्तन के लिए उपयुक्त वातावरण की आवश्यकता है। यह वातावरण शिक्षालय द्वारा निर्मित किया जाकर प्रस्तुत किया जा सकेगा। इसलिए पहले शिक्षालयों की अपेक्षा बुनियादी शिक्षालय भिन्न प्रकार के होंगे।

बुनियादी शिक्षा के शाला-भवन के लिए इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक होगा—(१) बुनियादी शिक्षा का शैक्षणिक कार्यक्रम, (२) बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम की आवश्यकता तथा (३) बुनियादी शिक्षा की

शिक्षण-पद्धति। इनके सविस्तार अध्ययन से यह स्पष्ट है कि शैक्षणिक कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्राम सभाएँ, सफाई-स्वच्छता, पर्व, उत्सव-त्योहार मनाना, खेलकूद, उद्योग-कार्य तथा बालकों का स्वायत्त शासन आदि हैं। पाठ्यक्रम की दृष्टि से शाला के समस्त विषयों को उद्योग तथा सामाजिक और प्राकृतिक माध्यम के द्वारा पढ़ाया जाना है। पद्धति की दृष्टि से उद्योग की प्रक्रियाओं तथा संबंधित वातावरण के प्रत्यक्ष सम्पर्क से विभिन्न ज्ञान की शाखाओं का शिक्षण किया जाना है। "करो और सीखो" इस पद्धति का मूल मन्त्र है। इसलिए बालकों को केवल अपने एक स्थान से बँधे रहने की अपेक्षा शाला के उद्योग-कक्षों में, खेती-बाड़ी के क्षेत्रों में, बाग-बगीचों में, प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण में फिरना-चलना पड़ेगा। इस दृष्टि से एक बुनियादी शाला के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा :—

(१) बालकों की आवश्यकताओं को प्राथमिकता दी जाय। कक्षों का निर्माण इस प्रकार किया जाय कि बालकों की सृजनात्मक एवं उत्पादक प्रवृत्तियों को समुचित स्थान मिल सके। बुनियादी शालाओं में कक्षों का उपयोग अध्यापन-कार्य, बालसभा, उद्योग-कार्य और इस प्रकार के अन्य योजनाबद्ध कार्यों में होगा।

(२) पाठशाला की स्थिति भी एक विचारणीय विषय होगा। एक बुनियादी शाला एक गाँव की अथवा छोटे-छोटे अनेक ग्रामों के समूहों की या अनेक मुहल्लों की आवश्यकता-पूर्ति करती है। आवागमन के साधन प्रचुर एवं सुलभ न होने के कारण उसे एक ऐसे अन्तर पर स्थित होना चाहिए जहाँ बालक आसानी से पैदल जा सकें। जहाँ तक सम्भव हो शोर-गुल, धूल-गंदगी एवं अस्वच्छ वातावरण से दूर स्वस्थ एवं सुरम्य स्थान पर हो। प्रकाश और हवा की सुविधा हो।

बालकों की अवस्था और स्तर भी ध्यान रखने की बात है। जूनियर और सीनियर स्कूल भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होंगे। अच्छा हो यदि छोटे पाठशाला-केन्द्र से आरम्भ करके पाठशाला के विकास और बालकों की संख्या में वृद्धि के अनुसार शाला-भवन का भी विस्तार किया जाय। कितने व किस-किस प्रकार के उद्योगों का समावेश किया गया है और उनको कितने स्थान की आवश्यकता है, सामाजिक और शारीरिक प्रवृत्तियों के लिए भी पर्याप्त

सुविधा प्राप्त है या नहीं—तात्पर्य यह है कि समस्त शैक्षणिक प्रवृत्तियों की सुविधा प्राप्त हो ।

(४) बुनियादी शिक्षालय में सामाजिक प्रवृत्तियाँ और सामाजिक जीवन की प्रधानता रहती है । बाल-सभा, छात्र-संसद्, प्रार्थना-स्थान, प्रदर्शन, प्रदर्शनी, ग्राम सभा, उत्सव, समारोह आदि अनेक प्रमुख अंग हैं । इसलिए एक बड़े कक्ष की भी आवश्यकता होगी । बरामदा या छप्पर, जिनपर बेलें चढ़ी हों, गमलों से सजे हुए हों, नीचे से छोटी-छोटी कमर तक की दीवारें हों, इन कार्यों के लिए बड़े ही उपयोगी होते हैं, कम कीमत में बन सकते हैं और शाला के सामूहिक प्रयत्न से अच्छे सजाए जा सकते हैं ।

(५) बागवानी व कृषि के लिए भूमि की भी आवश्यकता है । किसी सीनियर बेसिक स्कूल में यदि कृषि मूलोद्योग के रूप में है तो लगभग १० से १५ एकड़ तक की भूमि की आवश्यकता होगी । साधारण बागवानी, फूल-फल बाग के लिए पाँच एकड़ भूमि से भी काम चलाया जा सकेगा । भूमि के अभाव में स्थानीय खेती, बाग-बगीचों का निरीक्षण और योजनाबद्ध कार्य भी किन्हीं अंशों तक उपयोगी सिद्ध हुआ है । भूमि के साथ बैलों को और घास-फूस रखने को छप्पर तथा बीज आदि कृषि का सामान रखने को कमरा व कृषि के सहायक भृत्यों को भी कमरा आवश्यक है ।

(६) बुनियादी शाला-भवन की रचना इस प्रकार की होगी कि बालक को अपने अध्ययन, उद्योग-कार्य, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं रंजनात्मक प्रवृत्तियों में भाग लेते हुए एक घर के वातावरण का अनुभव हो, न कि एक कक्षा में बन्दी-गृह का । बुनियादी शाला को एक ग्राम-केन्द्र के रूप में आयोजित किए जाने की कल्पना है, जिसका यही अर्थ होगा कि शाला और समाज का निकट सम्पर्क होगा । पालकों और अभिभावकों का वहाँ के कार्यक्रम में अधिक-से-अधिक हाथ होगा । समय-समय पर वे शाला के स्वस्थ मनोरंजन में भी भाग लेंगे । पुस्तकालय भी उनके उपयोग के लिए खुला रहेगा । शाला की दूकान और सहकारी भण्डार आदि के उपयोग का भी विस्तार किया जा सकता है ।

(७) शिक्षक और शिक्षार्थी जब अपने सामूहिक प्रयत्न से शाला-भवन के आंशिक निर्माण, मरम्मत और सजावट आदि में भाग लेंगे तो स्वयं उनका ममत्व स्थापित होगा और शाला-भवन को गन्दा करना, तोड़-फोड़ करना, जो

प्राय: पाठशालाओं में देखा जाता है, रुक जायगा। खेलों के मैदानों, शाला के उद्यानों तथा बाग-बगीचों में गमलों आदि द्वारा सजावट का काम भी एक सामूहिक प्रयत्न का अंग होगा।

(८) अच्छा तो यह हो कि शाला-भवन को एक दम पूरा न बनाते हुए उसको टुकड़ों में बनाया जाय और आवश्यकतानुसार विस्तार किया जाय। इस सम्बन्ध में कई सुझाव दिए गए हैं। एक सुझाव यह भी है कि एक उपयुक्त लम्बाई-चौड़ाई का कमरा बनाकर कर्णाकार ढंग से उसको चार भागों में विभाजित किया जाय, प्रत्येक कमरे की बाहर की दीवार के दोनों तरफ दो दरवाजे हों और बीच में श्यामपट्ट आदि रहे। सामान भीतर रखा जा सकेगा और उसके आगे बने हुए बरामदे में अध्यापन अथवा उद्योग का काम हो सकेगा। धीरे-धीरे इनको बन्द करके कमरों का रूप भी दिया जा सकता है। इस योजना से हमको कई लाभ होंगे :—

(१) थोड़ी धनराशि में काम हो सकेगा। एक साथ धन नहीं लगाना पड़ेगा।

(२) योजना के अनुसार भविष्य में पूरा किए जानेवाले शाला-भवन का पूरा मानचित्र तैयार रहेगा। समाज धीरे-धीरे अपने साधनों के अनुकूल उसमें विस्तार कर सकेगा।

(३) धन को बचाया जाकर अधिक उपयोगी पाठन-सामग्री में व्यय किया जा सकेगा। पाठशालाएँ अधिक साधन-सम्पन्न और सामग्री से सुसज्जित की जा सकेंगी।

(४) स्थानीय प्रयत्नों को विस्तार के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा मिलेगी।

(५) इसके द्वारा बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों के अनुकूल एक स्वाभाविक वातावरण मिलेगा, जिसमें अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अवसर मिलेगा और शिक्षा का भी साधन होगा।

(६) जनता शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के लिए हाथ बटाने में अपनी जिम्मेदारी का अनुभव करेगी और राज्य सरकार के प्रयत्नों को भी सहायता मिलेगी।

(७) राज्य सरकार, जनता और शाला के सामूहिक प्रयत्नों को प्रोत्साहन मिलेगा।

इस दृष्टि से शाला-भवनों के निर्माण के लिए नीचे लिखी बातें ध्यान में रखने योग्य हैं :—

(१) शाला-भवनों के लिए स्थान ग्रामों में ग्रामीण जनता द्वारा तथा शहरी क्षेत्रों में स्थानीय संस्थाओं द्वारा प्राप्त होना चाहिए।

(२) शाला-भवन के निर्माण के पूर्व उसका भविष्य का एक सम्पूर्ण कल्पना-चित्र बनाया जाना आवश्यक है।

(३) भवन का नाभिक (केन्द्रिक) बनाया जाय जो मजबूत, सुन्दर और उपयोगी हो जिससे ग्रामीण जनता उसको पूरा करने को प्रेरित हो।

(४) बालकों की संख्या में वृद्धि के अनुसार अध्यापन-कक्षों और इन नाभिकों की संख्या में वृद्धि की जा सकेगी।

(५) उद्योग तथा पाठन-सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो और उसको प्राथमिकता दी जाय।

(६) शाला-भवन की योजना के साथ शिक्षकों के आवास की भी व्यवस्था का पूरा ध्यान रखा जाना आवश्यक है। शाला-भवन के समीप ही शिक्षकों की आवास-व्यवस्था शाला को बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होगी।

सामान-सज्जा

शिक्षा के प्रचार और प्रसार के साथ जो बात भवनों के लिए सत्य है वही बात सामान और सज्जा के लिए भी है। शिक्षा के नये मोड़ के साथ सामान और सज्जा में बड़े परिवर्तन की आवश्यकता हो गई है। एक ओर पुस्तकों से बंधी हुई पद्धति की शालाएँ हैं तो दूसरी ओर प्रत्यक्ष जीवन की विभिन्न क्रियाओं से भरी हुई प्रयोगशालाएँ हैं। जहाँ एक ओर, एक स्थान पर बैठे हुए केवल सुनने और सुनाने आदि का ही काम है वहाँ इनमें शरीर की समस्त इन्द्रियों को काम में लाकर क्रियाशीलता और हलचल है। इस बदलाव के कारण सामान और सज्जा का भी रूप बदल गया है।

(१) शालाओं में इस प्रकार का फर्नीचर उपयोगी नहीं होगा जिसमें बालकों की हलचल और क्रियाशीलता में बाधा पड़े। उसको बार-बार हटाकर खाली किया जाने में अनावश्यक समय और शक्ति का अपव्यय होगा।

(२) बालकों के उद्योग-कार्यों, सभा, गोष्टी आदि कार्यक्रमों की सुविधा से व्यवस्था हो सके। एक ओर जहाँ आवश्यक भवनों का ही अभाव है वहाँ शाला-भवनों में सामान्यतः सार्वजनिक रूप से इतनी व्यवस्था होना कठिन है कि उद्योग-कक्ष तथा अध्यापन-कक्ष पृथक्-पृथक् रखे जा सकें।

(३) शाला में उस सामग्री का समावेश करने की आवश्यकता होगी जिसका सम्बन्ध उस शाला के उद्योगी और सामाजिक जीवन से है।

इसलिए सामान को इतने भागों में विभाजित किया जा सकेगा :—

(१) छात्रों तथा शिक्षकों के बैठने की व्यवस्था।
(२) लिखने-पढ़ने की व्यवस्था।
(३) कक्ष-व्यवस्था।
(४) कार्यालय का सामान।
(५) उद्योग-कार्यों का सामान।
(६) खेल-कूद का सामान।
(७) सांस्कृतिक कार्यक्रम का सामान।
(८) सामाजिक जीवन की व्यवस्था का सामान।

(१) क्र. १, २ और ३ कक्ष-व्यवस्था के अन्तर्गत ही आते हैं। विद्यार्थियों को टाट-पट्टियाँ व चार-चार छः-छः के लिए लिखने की एक जमीन की मेज दिया जाना उचित होगा। शिक्षक को भी इस प्रकार का एक आसन और पृथक् मेज दिया जाना उचित होगा, जिससे उद्योग-कार्य को करते समय सामान को पीछे हटाकर दीवार में लगाकर रखने में और जगह निकालने में असुविधा न हो। कहीं-कहीं ग्रामीण शालाओं में टाट-पट्टियों की जगह शिक्षक और शिक्षार्थियों के प्रयत्न से खजूर की पट्टियाँ बड़ी सुविधा से बन जाती हैं और स्वावलम्बन का भी उदाहरण प्रस्तुत होता है। कक्षा का सामान रखने को दीवार में अलमारी या सन्दूक रखा जाना चाहिए। दीवार की अलमारी से जगह की किफायत भी होगी। श्याम-पट्ट दीवार पर भी बनाया जा सकेगा; किन्तु गुञ्जाइश के हिसाब से दीवार पर टाँगा जानेवाला ठीक रहेगा, जिससे उसको एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया सके।

(२) कार्यालयीन सामान में शाला की शासन-व्यवस्था का भी सब सामान समाविष्ट होगा । घड़ी, घण्टी, पानी के बर्तन, सरकारी रिकार्ड और उसको सुरक्षित रखने को सन्दूक या अलमारी, पुस्कालय, शाला के नाम की पट्टिका, सूचना-पट्टिका आदि ।

(३) सामाजिक जीवन व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग-कार्यों का सामान छोड़ कर लगभग सब ही सामान आ जाता है :—

(अ) स्वास्थ्य और स्वच्छता से सम्बन्धित सामान—झाड़ू, डलिया, खुरपी, फावड़ा, तसला, गेंती, छोटा ठेला, सब्बल, कुल्हाड़ी, हँसिया, झारे, बाल्टी आदि । यह समान पाठशाला के बागवानी व कृषि-विभाग के भी उपयोग में आ सकेगा । बालकों की नाप-तौल के साधन, प्राथमिक सहायता के साधन और खेलों तथा व्यायाम का सामान ।

(ब) छात्रावासयुक्त शाला में पाठशाला सम्बन्धी समस्त सामान रखना होगा । पानी के बर्तन, भोजन बनाने के बर्तन, शाक-भाजी काटने के औजार, परोसने के बर्तन, भोजन के समय बैठने के आसन या चटाइयाँ आदि । प्रत्येक पाठशाला में जहाँ अल्पाहार व्यवस्था की सुविधा हो वहाँ विद्यार्थी स्वयं अपने बर्तन रखेंगे; किन्तु पाठशाला और परोसने के बर्तन शाला के ही रखा जाना उचित होगा ।

(स) सांस्कृतिक व्यवस्था के सामान के लिए मंगल-कलश, मंगल-दीप, ऊदबत्तीदान, अल्पना का सामान, साधारण स्थानीय वाद्यों की सुविधा भी प्राप्त होना चाहिए । इकतारा, मंजीर और ढोलक सबसे सुगम हैं । राष्ट्रीय ध्वज भी इस विभाग के पास होना चाहिए । धीरे-धीरे सजावट के सामान का भी उपयोगी स्थायी संग्रह होता चलेगा ।

(४) उद्योग-कार्यों का सामान:—

(अ) वस्त्र-कला विभाग:—(कताई)—तकली, अटेरन, चर्खा, अटेरन, सलाई-पाट, पोनीपाट, तुनाई धनुष, तेल देने की कुप्पी, कच्चा माल संग्रह की कोठी, तोलने का काँटा आदि । सुविधानुसार औटाई यन्त्र, धुनाई यन्त्र, कसयंत्र आदि भी उपयोगी हैं ।

(बुनाई)—आसन का अड्डा, निवार का अड्डा व छोटे-छोटे आसामी व बिहारी करघे। विस्तार के साथ बड़े करघों का उपयोग हो सकेगा।

(ब) बागवानी व कृषि विभाग :—गेंती, कुदाली, फावड़ा, खुरपी, सब्बल, हँसिया, कुल्हाड़ी, झारा, बाल्टी, डलिया, तसला, छोटा ठेला, तराजू-बाँट, बीज-संग्रह को बीज व बरनी आदि।

खेती के औजार, बैलजोड़ी, चरस, रहट, आदि जहाँ खेती की सुविधा हो।

(स) काष्ठ-कला:—इसको वस्त्र-कला खेती व बागवानी की सहायक कहा गया है। इसका भी साधारण सामान उपयोग के अनुसार रखा जाता उचित है, जैसे बसूला, आरी, चारसी, पटासी, फुटा, गुनिया, रन्दा, खसरा, हतौड़ी।

बालकों की संख्या के अनुसार सामग्री-सज्जा में न्यूनाधिक्य किया जा सकता है।

स्वास्थ्य और स्वच्छता

बुनियादी शिक्षा में शुद्ध और स्वस्थ जीवन का अभ्यास शिक्षा का एक प्रमुख अंग है। व्यक्तिगत सफाई व स्वच्छता एक नैतिक कर्त्तव्य है। व्यक्तिगत तथा सामाजिक सफाई व स्वच्छता एक सामाजिक धर्म है। यह व्यक्तिगत स्वास्थ्य तथा सामाजिक उन्नति को आवश्यक है। इसलिए बुनियादी शाला का कार्यक्रम इस प्रकार आयोजित होना चाहिए कि स्वच्छता और आरोग्य के नियमों का अभ्यास हो। सामाजिक जीवन में इन नियमों को व्याप्त करने को बुनियादी शाला ही एक अच्छा साधन है। अच्छी और बुरी आदतें दोनों ही छूत के रोग की तरह फैलती हैं। इन नियमों के अभ्यासी बालक स्वच्छता और स्वास्थ्य के नियमों को पूरे समाज तक ले जायेंगे। उनके सामाजिक सेवा तथा सामूहिक स्वच्छता और स्वास्थ्य के कार्यक्रम पूरे समाज को इन नियमों के प्रति उत्प्रेरित करेंगे। स्वच्छता के सम्बन्ध में कुछ सुझाव नीचे दिए जा रहे हैं:—

(१) शाला की सफाई व स्वच्छता का उत्तरदायित्व शाला के समाज का ही होगा। सफाई की व्यवस्था की देख-रेख के लिए प्रति-मास एक सफाई-व्यवस्थापक का चुनाव हो। यह कार्य बड़ी-बड़ी शालाओं में प्रति कक्षा के लिए पृथक् भी हो सकता है। सारे स्कूल के लिए एक सफाई-व्यवस्थापक होगा, जो इन सबके कार्यों में समन्वय स्थापित करेगा।

(२) सफाई के कार्यों के अनुसार काम की इकाइयाँ बनाकर काम का विभाजन हो।

(३) इस सब कार्य के मार्गदर्शन के लिए एक शिक्षक भी नामाङ्कित किया जाय।

(४) किए गए कार्य का लेखा व ब्यौरा रखा जाय व मास के अन्त में ग्राम सभा में सुनाया जाय।

(५) कभी-कभी विशेष सामूहिक आयोजन भी किए जायें।

(६) उत्तम स्वास्थ्य के लिए एक चिन्ह उस मास में उत्तम स्वच्छता रखनेवाली कक्षा को दिया जाय।

(७) यदि सम्भव हो तो एक डॉक्टर का भी सहयोग प्राप्त किया जाय, जो स्वच्छता सम्बन्धी नियमों को और उनके महत्त्व को समझावे। यह कार्य कभी-कभी स्कूल के शिक्षकविशेष के द्वारा भी किया जा सकता है। भोजन आदि सम्बन्धी जानकारी तथा संक्रामक रोगों व साधारण रोगों की रोकथाम व उपचार सम्बन्धी जानकारी इनके द्वारा प्राप्त हो सकती है। पाठशाला में आरोग्य-केन्द्र का रखा जाना भी उपयोगी होगा। बड़ी कक्षा के बालक इस कार्य को उत्तम ढंग से कर सकते हैं।

(८) शाला प्रारम्भ होने के पूर्व सफाई-परेड की आवश्यकता है। जिसमें बालकों के आँख, कान, नाक, दाँत, बाल, त्वचा, वस्त्र आदि की सफाई देखी जाय और ऐसे साधन वहाँ रखे जायें जिनसे इस कमी को तत्काल ठीक कराया जा सके। शाला में एक शीशा भी रखा जाना उपयोगी है। नाखून काटने को भी नाखून काटने के चाकू रखे जाना चाहिए। बच्चों को नहाने की आदत डालने को कभी-कभी शाला के कुए पर नहाने की व्यवस्था भी करना होगी। इसी प्रकार कपड़ों को सामने साफ करके लोहा करना व उनकी ठीक तरह से तह करना भी सिखाना चाहिए।

(९) शाला में कूड़ा-करकट फेंकने को गड्ढे व बरामदों में कूड़े के डिब्बे रखना चाहिए। इसी प्रकार पेशाब-घर व शौचालयों की व्यवस्था आवश्यक है व बालक उनका उचित प्रकार से उपयोग करना व स्वयं साफ रखना भी जानते हों। पानी का कमरा विशेष रूप से साफ रखा जाय। इसी प्रकार बालकों के अल्पाहार का स्थान भी साफ रखना होगा।

सफाई की इस व्यवस्था के साथ स्वास्थ्य के नियमों के अभ्यास का भी ध्यान रखना होगा। नियमों की शिक्षा भी मिले और उनका अभ्यास भी मिले ऐसी व्यवस्था करनी होगी। स्वास्थ्य की शिक्षा के इन उद्देश्यों को ध्यान में रखना होगा।

(१) बालकों की ऐसी शिक्षा की व्यवस्था हो जिससे वे अपने स्वास्थ्य की सुरक्षा और उन्नति कर सकें।

(२) बालकों में ऐसी आदतों का निर्माण हो और वे उनके ऐसे अभ्यासी बन जाएँ कि न केवल शाला के जीवन में, वरन् पूरे जीवन में भरपूर शक्ति और क्षमता बनी रहे।

(३) बालकों के स्वास्थ्य के कार्यक्रम द्वारा पालकों को भी स्वास्थ्य के नियमों की ओर आकर्षित किया जा सके, जिससे स्वास्थ्य के प्रति उनकी भी उचित मनोवृत्ति और आदतें बनें।

(४) व्यक्ति और समाज को स्वस्थ बनाकर एक उन्नत राष्ट्र का निर्माण किया जा सके। स्वास्थ्य के कार्यक्रम के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त ये हैं :—

(१) बच्चों को बागवानी और पशु-पक्षी-पालन के सामान्य प्रकरणों में जीव-विज्ञान के नियमों से परिचित कराया जा सकता है।

(२) विद्यार्थियों की स्वयं की दैनिक आवश्यकता तथा सामाजिक आवश्यकता पर आधारित स्वच्छता व स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान व अभ्यास कराया जाय। यह ज्ञान सउद्देश्य और सजीव हो।

(३) स्कूल, घर व समाज में विशेष परिस्थियाँ, दुर्घटनाएँ, अपघात, फैलनेवाली बीमारियाँ आदि शिक्षा के पर्याप्त अवसर देती हैं।

(४) भोजन, व्यायाम, आराम, वस्त्र, शुद्ध वायु, पानी, प्रकाश आदि की जीवन की सुरक्षा के लिए आवश्यकता परिस्थिति अनुसार अनुभव कराई जाय।

(५) सामाजिक स्वास्थ्य के लिए व्यक्तिगत स्वास्थ्य एक नैतिक धर्म है।

(६) बालकों को बीमारी आदि का भय दिखाकर नियम पालन कराना एक उचित रीति नहीं है, बल्कि सशक्त जीवन के लिए उत्तम स्वास्थ्य आवश्यक है, जिससे स्वयं का जीवन सुखी रहे और सामाजिक सेवा भी हो, यह ध्येय रखना उत्तम है।

(७) प्राथमिक कक्षाओं के बालकों की सैद्धान्तिक चर्चा इतनी उपयोगी नहीं है जितना साधारण नियमों का अभ्यास करा देना। आगामी जीवन में वे स्वयं उनसे परिचित हो जाएँगे।

स्वास्थ्य के लिए शाला की नीचे दी हुई बातें सहायक होती है उनका ध्यान रखा जाना उपयोगी होगा :—

(१) शाला की स्थिति :—साफ, स्वच्छ स्थल पर, जहाँ पास ही में खेल का मैदान व बाग-बगीचा हो। फूलवाटिका, गमलों व वेलों से सजी हुई हो। पास-पड़ौस भी स्वस्थ हो। साधारण सुन्दर आकर्षक कलाकृति हो। कमरे हवादार व रोशनीदार हों, कमरों में बालकों की संख्या के अनुसार जगह हो। एक बालक को १५ वर्गफीट भूमि व २०० घनफीट हवा का स्थल चाहिए।

(२) प्रकाश:—कमरे ठीक-ठीक प्रकाशयुक्त होने चाहिए। कमरों में न तो बहुत ज्यादा ही रोशनी हो और न कम। कम और ज्यादा दृष्टि की शक्ति रखनेवाले बालकों को दूर व पास का स्थान दिया जाय। रोशनी बालकों की आँखों पर सीधी भी न गिरे। रोशनी बालक के बाईं तरफ से ही आवे।

(३) हवा:—कमरे ठीक-ठीक हवादार हों। ताजी हवा से चैतन्यता और कार्य करने की क्षमता बढ़ती है। ऋतु के अनुसार खुले हरे-भरे उद्यान तो बहुत ही रमणीक स्थल हैं।

(४) बैठक का सामान:—बालकों की अवस्था, कक्षा में स्थान व आवश्यकता के अनुकूल हो।

(५) श्याम-पट:—काले या हरे हों। उनपर सीधी रोशनी न गिरे। ऐसे स्थान पर रखा जाय कि सब बालक देख सकें। शिक्षक के बाईं ओर उसका स्थान ठीक है। दाईं तरफ रखने से बार-बार उसके सामने से शिक्षक को निकलना होगा। गीला डस्टर काम में लाने से खड़िया की धूल नहीं उड़ेगी।

बालकों के स्वास्थ्य का रिकार्ड भी रखा जाना चाहिए। नाप-तौल का लेखा रखा जाय। समय-समय पर डॉक्टरी जाँच की भी व्यवस्था हो और पालकों को उससे अवगत कराया जाय।

शारीरिक शिक्षा भी स्वास्थ्य-शिक्षा का एक अंग है। व्यक्तिगत तथा सामूहिक व्यायाम व खेलों की व्यवस्था इसके अन्तर्गत आती है। बहुत लोगों की धारणा है कि बुनियादी शिक्षा में उद्योग व शारीरिक श्रम को स्थान देने से पृथक् रूप से खेलों, व्यायाम व ड्रिल आदि का कोई स्थान नहीं है। यह भ्रमात्मक है। यह बात सत्य है कि श्रम-कार्यों में बालकों को पर्याप्त शारीरिक

व्यायाम मिल जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनोरंजन के लिए खेलों का कोई स्थान नहीं है। खेलों का स्वयं का उद्देश्य है, उसके सिद्धान्त हैं। खेल शिक्षा का एक बड़ा उपयोगी साधन माने गए हैं, जो बालकों के शिक्षण में गुड़-लिपटी गोली का काम देते हैं। शिशु-अवस्था में तो बालक काम और खेल के अन्तर को तो जानते ही नहीं हैं; किन्तु बाल्यावस्था में ही उनको काम और खेल के पृथकत्व ज्ञात हो जाता है। इसलिए उनको पृथक रूप से खेलों की व्यवस्था करने की भी आवश्यकता पड़ जाती है। इसके पीछे अतिरिक्त शक्ति का उपयोग, पूर्वाभिनयवाद, रचनावाद, भावी जीवन की तैयारी आदि अनेक सिद्धान्त हैं। इसलिए एक अच्छी पाठशाला में स्वस्थ खेलों का विधिवत् आयोजन होना चाहिए।

इसी प्रकार स्वस्थ व्यायाम और ड्रिल की बात है। यह सामूहिक कार्यों में कुशलता और अनुशासन की वृद्धि करती है। बालकों में चैतन्यता, फुर्ती, चुस्ती और स्फूर्त्ति आती है। आज के विचारकों की धारणा है कि मस्तिष्क की और शरीर की क्रियाओं का पारस्परिक सम्बन्ध है और बालक के विकास पर उसका पूरा प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क रहता है। यदि यह कहावत सत्य है तो मानसिक स्वास्थ्य को शारीरिक स्वास्थ्य आवश्यक है। समग्र विकास में शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास का समन्वय है। गांधीजी का कथन था कि शारीरिक ड्रिल, हस्तकला, संगीत और चित्रकला शिक्षा की योजना में साथ-साथ चलना चाहिए, जिससे बालकों में उनकी आन्तरिक शक्तियों को अधिक-से-अधिक प्रकाश में लाया जा सके। खेलों आदि की व्यवस्था के लिए पृथक् रूप से इसी पुस्तक में लिखा गया है।

बुनियादी शाला में रिकार्ड, आलेख और अभिलेख

प्रत्येक शिक्षालय में उसके प्रारम्भ से ही इस प्रकार के रिकार्ड रखे जाना आवश्यक हैं, जिससे उसकी प्रारम्भिक स्थिति, उसका विकास व उन्नति, भिन्न-भिन्न समयों पर उसकी स्थिति और परिस्थिति, उसके उद्देश्य, आकांक्षाएँ, प्रगति, कुशलता, उपयोगिता और सफलता का परिचय प्राप्त हो सके। शाला के शासन, अधिकारियों, प्रबन्धकों और पालकों, बालकों और कार्यकर्त्ताओं की दृष्टि से भी यह उपयोगी और आवश्यक है। शिक्षालय के प्रयोग, उनकी सफलता तथा विफलता, पाठन-पद्धति, कार्य-योजना, कार्य-मूल्यांकन आदि के लिए भी यह उपयोगी है।

बुनियादी शिक्षालय में, जो नई दिशा में ही कार्य कर रहे हैं, उनको और यह भी अधिक आवश्यक है कि इस नवीन शिक्षा-योजनानुसार शिक्षालय की प्रगति व बालकों की प्रगति का ठीक-ठीक मूल्यांकन किया जाकर योजना के सम्बन्ध में निश्चित परिणाम प्रस्तुत कर सके। बुनियादी शिक्षालय उद्योग को शिक्षा का केन्द्र मानकर सामाजिक व प्राकृतिक वातावरण का उपयोग कर समवाय की विशेष पद्धति पर काम करनेवाले हैं। सामाजिक वातावरण का अधिक-से-अधिक उपयोग करके शिक्षा को जीवन के लिए और जीवन की क्रियाओं द्वारा देने की पद्धति में विश्वास करते हैं। अस्तु इन विद्यालयों को सामान्य विद्यालयों के रिकार्ड के अतिरिक्त अपनी योजनाएँ, अनुभव, विवरणों आदि के आलेख और अभिलेख भी विशेष रूप से रखने होंगे। इस दृष्टि से शिक्षार्थियों और शिक्षकों दोनों ही के अभिलेखों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान बन जाता है। शिक्षक की सामूहिक योजना में शिक्षार्थी का व्यक्तिगत प्रयास और उसके द्वारा उसकी प्रगति का लेखा महत्त्वपूर्ण है। इस प्रगति के मूल्यांकन में रिकार्ड का निचित स्थान है, जिसके आधार पर प्रगति आँकी जा सकती है। हिसाब-किताब, आय-व्यय, लाभहानि, काम की योजना उसकी पूर्त्ति तथा अपूर्त्ति, उससे प्राप्त अनुभव और शिक्षा, आत्म-निरीक्षण, समीक्षा

और परीक्षा के साधन बन जाते हैं। इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैं :—

(१) यह इतने अधिक न हो जायें की शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही इनसे अनावश्यक रूप से बोझल हो जायँ। अन्यथा इनका स्वयं का रखा जाना नियमित प्रगति में बाधक होगा। इसलिए कम-से-कम नितान्त आवश्यक रिकार्ड रखे जाना ही उचित है।

(२) यदि रिकार्ड रखा जाय तो उसका रखा जाना केवल यांत्रिक मात्र ही न हो। यथासमय उसका निरीक्षण किया जाना चाहिये।

(३) रिकार्ड के प्रारूप बनाते समय कार्यकर्त्ताओं से परामर्श कर लेना अच्छा होता है, क्योंकि शाला के समस्त कार्यकर्त्ताओं को ही तो समय-समय पर इनको नियमित ढंग से रखना होगा और निरीक्षण भी करना होगा। बड़ी कक्षा के बालकों की सूरत में उनसे भी परामर्श लिया जाना उचित होगा।

(४) रखे जानेवाले आलेखों या अभिलेखों का वास्तविक उपयोग हो और उनसे प्रगति का मूल्यांकन किया जा सके। बालक के विकास की जाँच की कसौटी का उपयोगी उद्देश्य पूरा कर सकते हैं। बालकों को स्वयं को उसकी जाँच करने का साधन हों। शिक्षकों और अभिभावकों को प्रगति की ठीक-ठीक जानकारी दे सकते हों।

(५) शिक्षक उनसे अपने पढ़ाने की पद्धति का मूल्यांकन कर सके और अपने प्रयोगों का परिणाम निकाल सके।

(६) इनसे शाला सम्बबन्धी समस्त जानकारी अधिकारियों को दी जा सके।

(७) शाला के शासन-संचालन, मार्गदर्शन और व्यवस्था में उपयोगी हों।

(८) ठीक समय पर रखे जाते हों और सत्य हों।

(९) विद्यालय की वैयक्तिक एवं सामूहिक योजनाएँ, उनका कार्यान्वियन,

साधनों का एकत्रीकरण और उपयोग, मार्गदर्शन, ज्ञानार्जन, कार्य-क्षमता का मूल्यांकन हो सके ।

(१०) केवल वार्षिक अथवा विशेष अवसरों पर ली गई परीक्षामात्र ही प्रगति के मूल्यांकन का पर्याप्त साधन न होने से नियमित प्रगति का लेखा-योजना लिया जा सके ।

अतएव उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से शिक्षालय में रखे जानेवाले रिकार्डों को चार भागों में विभक्त किया जाता है :—

(१) बालोपयोगी ।
(२) शिक्षकोपयोगी ।
(३) शासन व व्यवस्था से सम्बन्धित कार्यालयोपयोगी ।

(१) बालोपयोगी :—

(१) योजना-वही—बालक अपनी योजनाएँ लिखेंगे ।
(२) प्रगति-वही—इसमें मासिक प्रगति का व्योरा होगा ।
(३) दैनन्दिनी—दैनिक कार्यों का विवरण व अनुभव ।
(४) उद्योग-वही—उद्योग-कार्यों का लेखा-जोखा ।
(५) स्वाध्याय-वही—प्राप्त ज्ञान का संचय ।

(२) शिक्षकोपयोगी :—

(१) दैनन्दिनी—दैनिक कार्यों का लेखा, अनुभव, सुझाव व समस्याएँ ।
(२) योजना-वही—वर्ष भर के कार्यों की योजना, क्रियाशीलनों की सूची, उनका मासिक व साप्ताहिक विभाजन, उनके आधार पर शिक्षा-क्रम के अनुसार ज्ञानार्जन की रूप-रेखा ।
(३) प्रगति-वही—मासिक प्रगति और लक्ष्य-प्राप्ति का लेखा ।
(४) उद्योग-वही—उद्योग का लेखा ।
(५) स्वाध्याय—अनुभवों, स्वाध्याय और अध्यापन की टिप्पणियाँ ।
(६) दैनिक पाठ-टीका—प्रतिदिन के कार्यों का पूर्व-संकेत ।
(७) साहित्य-निर्माण-वही—अनुभव, स्वाध्याय, बालकों का अध्यापन प्रयोगों के विवरण व परिणाम आदि ।
(८) वर्गोपयोगी (शिक्षक द्वारा)—
(१) वर्ग-योजना वही, (२) प्रगति-वही, (३) उद्योग-वही,

(४) उपस्थिति-वही, (५) बाल-विकास वही, (६) वर्ग-निरीक्षण वही, (७) वर्ग सामाजिक कार्यक्रम वही (८) सांस्कृतिक कार्यक्रम वही।

(३) कार्यालयों (प्रधानाध्यापक के कार्यालय द्वारा) :—

(१) बालकों की भरती।
(२) शिक्षकों व कर्मचारियों की उपस्थिति।
(३) भण्डार (स्टॉक) वही।
(४) दर्शकों की सम्मति-वही।
(५) निरीक्षकों व अधिकारियों की निरीक्षण-वही।
(६) कार्यालयीन आदेश।
(७) प्रधान द्वारा निरीक्षण व निर्देशन वही।
(८) पत्र-प्राप्ति वही (आवक)।
(९) पत्र-प्रेषण वही (जावक)।
(१०) डाक-वही।
(११) रोकड़-वही।
(१२) रसीद, चालान आदि।
(१३) पुस्तकालय-वही—स्टॉक।
(१४) पुस्तकालय-वही—लेन-देन।
(१५) दैनिक कार्य-विभाग-चक्र, (कक्षागत, शिक्षकगत)।
(१६) शिक्षकों की सभा का व्योरा।
(१७) मूल्यांकन-वही।
(१८) उद्योग विभाग की आय-व्यय का व्योरा।
(१९) वेतन-भुगतान, छात्रवृत्ति-वितरण आदि।
(२०) कंटिजेन्ट।
(२१) सर्विस-बुक (सेवा-पंजी)।
(२२) वार्षिक, मासिक कार्य-योजना, मासिक सिंहावलोकन, लक्ष्य-प्राप्ति का लेखा, वार्षिक प्रतिवेदन।
(२३) बालकों, शिक्षकों व पालकों के सुझाव, समस्याएँ और निराकरण।
(२४) शाला की मुख्य घटनाओं का विवरण।

(२५) वहियों की सूची ।

रिकार्ड रखे जाने के लिए कुछ उपयोगी प्रारूपों का परिशिष्ट में दिया जा रहा है। ये प्रारूप इसी लेखक की 'समवायी शिक्षण' नामक पुस्तक में भी दिये गये हैं। किन्तु पाठशाला-प्रबन्ध से इनका निकट सम्बन्ध होने के कारण इस पुस्तक में भी उनको स्थान दिया जा रहा है।

परिशिष्ट १

शिक्षार्थी की प्रगति का मासिक विवरण

नाम.........................

(१) दैनिक नियमितता

शाला के दिन	उपस्थिति	समय से सोना व उठना	प्रार्थना	व्यक्तिगत सफाई	सामूहिक कार्य	उद्योग कार्य	अध्ययन	लेखा कार्य	अध्ययन (शिक्षकों के लिये)	समाज-सेवा	मनोरंजन व सांस्कृतिक कार्यक्रम	अन्य

इन खानों में एक दिन में जितने बार जो कार्य किए गए हों, उनकी दैनिक डायरी के आधार पर कुल मास की संख्या भर दी जायगी। उदाहरणार्थ प्रार्थना एक मास में दो बार के हिसाब से ६० बार होगी तो ६० अंक होने चाहिए। इसी प्रकार एक दिन में एक कार्य का एक अंक निश्चित कर लेने से मास के अंत में नियमितता का अनुमान किया जा सकता है।

(२) कक्षा में शिक्षण-कार्य

कार्य	उपस्थिति	कार्य का ब्यौरा

(३) स्वाध्याय

विषय	कुल समय	पुस्तकों के नाम, पृष्ठ व शीर्षक	आलेखों के शीर्षक

(४) उद्योग

उद्योग का नाम	समय	कार्य का ब्यौरा, गति, नाप, तौल उत्पादन-व्यय, मूल्य आदि

(५) सामाजिक कार्य

समय	कार्य का विवरण

(६) अध्यापन-कार्य (केवल शिक्षकों के लिए)

दिन	समय	क्रियाशीलन	समवायी ज्ञान

(७) श्रम का मूल्यांकन

उद्योग विभाग में	सामाजिक कार्यों में	संगठित सेवा-कार्यों में	कुल

(८) विद्यार्थियों के अनुभव, सुझाव व समस्याएँ

समस्याओं व सुझावों का लेखा

समस्या या सुझाव	शिक्षा के किस केन्द्र से सम्बन्धित है ?	किस क्रियाशीलन का सुझाव है ?	क्या समवायी ज्ञान दिया जा सकता है ?	किस कार्य की क्या योजना बनाई गई ?	किसके सुपुर्द की गई ?	क्या उसकी पूर्त्ति की गई ?	विशेष

नोट:—यह लेखा प्रधानाध्यापक द्वारा रखा जायगा। शिक्षकों व विद्यार्थियों को दैनिक डायरी, ग्राम सभा, सामाजिक व्यवस्था की चर्चा ग्रादि के फलस्वरूप सामूहिक एवं व्यक्तिगत सुझाव एवं समस्याएँ प्राप्त होती हैं, उनका उपयोग समवाय की स्वाभाविक योजना में किया जा सकता है। इन ग्रालेखों के ग्रनुभवों से साहित्य-निर्माण में बड़ी सहायता होगी। इसी प्रकार के ग्रालेख पृथक्-पृथक् शिक्षक भी ग्रपने शिक्षण-सम्बन्धी कार्यों में रख सकते हैं।

परिशिष्ट २

बुनाई का दैनिक लेखा

दिनांक	काम दने का दिनांक	काम का प्रकार	सूत का वजन	कार्य का समाप्ति दिनांक	कुल समय	वापसी काम का वजन	हस्ताक्षर अध्यापक	विशेष

दैनिक डायरी दि०.........से दि०.........तक

दिन व दिनांक	समय से सोना व उठना	प्रातः एवं सायंकालीन प्रार्थना	सूत्र-यज्ञ	व्यक्तिगत सफाई	सामाजिक कार्य	उद्योग			कक्षा-शिक्षण का विवरण	व्यावहारिक शिक्षण केवल शिक्षकों के लिए		स्वास्थ्य का विवरण	लेखी कार्य	व्यायाम, खेल आदि मनोरंजन	सेवा-कार्य, सांस्कृतिक कार्यक्रम	मंत्रिमंडल का कार्य आदि	विशेष
						बागवानी या कृषि	वस्त्र-स्वावलम्बन	अन्य उद्योग		अध्ययन	निरीक्षण						

नोट:—विद्यार्थी डायरी में प्रतिदिन दैनिक कार्यक्रम की प्रायः पुनरावृत्ति करते रहते हैं। अतः, जहाँ छोटी कक्षाएँ हों वहाँ तो भाषा-शिक्षण की दृष्टि से यह उपयोगी सिद्ध हो सकता है; किन्तु बड़ी कक्षाओं में इस प्रकार का एक प्रारूप देकर उसमें किए गए कामों के खाने में केवल चिन्ह लगाना और और कार्यों का स्थूल विवरण देना ही पर्याप्त होगा। डायरी के शेष पृष्ठों में विद्यार्थियों को अपने अनुभव, सुझाव और समस्याएँ आदि तारीख डालकर लिखने को कहना अधिक उपयोगी होगा। प्रशिक्षण विद्यालयों में इसके साथ शिक्षक अपनी प्रतिक्रिया, अपने जीवन पर प्रभाव, आदतों में परिवर्तन तथा अपने निरीक्षण, अनुभव एवं समवाय की संभावनाओं आदि का समावेश कर सकते हैं।

परिशिष्ट ४

उद्योग विभाग के काम का मासिक ब्यौरा

मास	विभाग खुलने के दिन	औसत उपस्थिति	कार्य के घण्टे	उत्पादन का विवरण	कच्चे माल का विवरण	कच्चे माल की कीमत	उत्पादित सामग्री की कीमत	श्रम का आनुमानिक मूल्य	प्राप्त ज्ञान का उल्लेख	विशेष

कृषि व बागवानी विभाग का ब्यौरा

मास	विभाग में कार्य के दिन	औसत उपस्थिति	कार्य के घण्टे	सामूहिक कार्य		व्यक्तिगत कार्य				व्यक्तिगत उत्पादन	सामूहिक उत्पादन	सामूहिक उत्पादन का मूल्य	विभाग पर किया गया व्यय	उत्पादन द्वारा आय	श्रम का आनुमानिक मूल्य	प्राप्त ज्ञान का उल्लेख	विशेष
				कार्य विवरण	घण्टे	क्यारियों की देखभाल	गमलों की देखभाल	वृक्षों की देखभाल	इन कार्यों पर दिया गया समय								

नोट:—यदि इस विभाग में व्यक्तिगत एवं सामूहिक कार्यों के लक्ष्य निर्धारित कर लिए जाएँ तो सोद्देश्य इकाई की पूर्त्ति के साथ प्रगति का मूल्यांकन करने में भी सहायता होती है। ये लक्ष्य साधन, सामग्री, कार्यकर्त्ताओं की संख्या तथा विभाग को दिए जानेवाले समय के आधार पर शिक्षक एवं विद्यार्थियों की सामूहिक सभा में निश्चित किए जा सकते हैं। वर्ष व मास योजना में इन्हीं का प्रमुख स्थान होता है।

परिशिष्ट ६

शिक्षार्थी का दैनिक कताई-सम्बन्धी लेखा मास............

दनांक	कपास सफाई				कपास ओटाई						धु			ना		
											बाँस-धनुष द्वारा			बाँस-छुरी द्वारा		
	समय	वजन	कचरा	गति प्रति घण्टा	समय	कपा ा	ई	बिनोला	कचरा	गति प्रति घण्टा	समय	वजन	गति	समय	वजन	गति

ई			कताई						सूत्र-यज्ञ		हस्ताक्षर अध्यापक	विशेष
पिंजन द्वारा			तकली द्वारा			चरखे द्वारा						
समय	वजन	गति	समय	तार	गति	समय	तार	गति	समय	तार		

परिशिष्ट ७

शिक्षक की पाठ्यक्रमानुसार वार्षिक योजना

विषयवार निर्धारित शिक्षा-क्रम	पूरे वर्ष के क्रियाशीलन एवं सहायक क्रियाशीलन	क्रियाशीलन द्वारा ज्ञान (उद्योग, सामाजिक, सांस्कृतिक सेवा, भ्रमण, पर्यटन शैक्षणिक यात्रा आदि क्रियाशीलन)	सुक्तक ज्ञान	विशेष
१	२	३	४	५

नोट:—इस प्रारूप के स्तम्भ २ में निर्दिष्ट योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करने में शिक्षकों व कक्षा ३ से ऊपर के बालकों का सहयोग प्राप्त किया जाए। इसको मोटे अक्षरों में लिखकर ऐसे स्थान पर टांगा जाए जहां सब बालक सुगमता से उसे पढ़ सकें। प्रारूप के खाने आवश्यकतानुसार छोटे व बड़े बनाए जा सकते हैं।

परिशिष्ट ८

शिक्षक की मासिक योजना

कक्षा	मास	क्रियाशीलन तथा सहायक क्रियाशीलन	क्रियाशीलन के आधार पर सम्पादित ज्ञान	मुक्तक ज्ञान	योजनानुसार मासिक लक्ष्य-पूर्ति का विवरण मास के अन्त में दिया जाए	विशेष
१	२	३	४	५	६	७

नोटः—(१) प्रत्येक मास के अन्त में शिक्षकों व कक्षा ३ के ऊपर के बालकों की सभा में मासिक कार्य का सिंहावलोकन किया जाए व उसके अनुसार आगामी मास की योजना में आवश्यक परिवर्तन किया जाए।

(२) पूरे वर्ष तथा प्रत्येक मास के शाला के खुलने के दिनों का लेखा रखकर ऋतु अथवा समाज की आवश्यकतानुसार मासिक योजना बनाई जाए।

(३) इस प्रारूप के क्रमांङ्क ६ में दिए हुए विवरण के अनुसार विषयवार चिह्न वार्षिक योजना के प्रारूप नं० २ के स्तम्भ १ में लगाए जाएँ।

शिक्षक की दैनिक डायरी

दिनांक	कक्षा	क्रियाशीलन	क्रीयाशीलन द्वारा सम्पादित ज्ञान	मुक्तक ज्ञान	समवाय की अन्य संभावनाएं	अन्य कार्य, जन-संपर्क, सामाजिक शिक्षा, रचनात्मक कार्य	शिक्षक का स्वयं का स्वाध्याय	समस्याएं व सुझाव	विशेष
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०

नोट:—बालकों की बाल-सभा का विवरण, उत्सवों व त्योहारों का विवरण, भाषण, कविता-पाठ आदि सांस्कृतिक कार्यक्रमों का विवरण, शैक्षणिक यात्रा, भ्रमण, पर्यटन के अनुभव एवं अन्य संग्रह-योग्य कार्यक्रमों का विवरण संग्रहीत किया जाए। यह साहित्य-सृजन की दिशा में एक अच्छा प्रयास होगा। इन विवरणों को एक हस्तलिखित पत्रिका के रूप में शाला में संग्रहीत रखा जाए।

परिशिष्ट १०

कच्चे सामान का ब्यौरा

नाम वस्तु

कितना सामान सिलक में है	कीमत	दिनांक	कितनी मात्रा में प्राप्त हुआ	कहां से	दर	मूल्य	कितनी मात्रा में खर्च हुआ	किस काम में खर्च हुआ	मास के अन्त में कितना शेष है	शेष सामान की कीमत	विशेष
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२

परिशिष्ट ११

उत्पादित सामग्री का लेखा

दिनांक	नाम वस्तु	मात्रा या संख्या	कच्चे माल की लागत कीमत	तैयार वस्तु का बाजार मूल्य	बेचे हुए माल की मात्रा या संख्या	बेचे हुए माल की कीमत	कितना धन कोषालय में जमा हुआ	शेष धन जो जमा हुआ	शेष सामान	उसकी कीमत	विशेष
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२

परिशिष्ट १२

श्रम-कार्य का लेखा

क्रमांक	दिनांक	उद्योग अथवा कार्य का विवरण	कितने समय काम किया	श्रम का अनुमानित मूल्य	विशेष
१	२	३	४	५	६

टिप्पणी:—प्रति बालक कक्षा १ से ३ तक दो पैसा प्रति घण्टा व कक्षा ४ से ५ तक एक आना प्रति घण्टा अनुमानित पारिश्रमिक रखे जाने का सुझाव है।

परिशिष्ट १३

बालकों की दैनिक डायरी

दिनांक	क्या काम किया (उद्योग, सामाजिक, सांस्कृतिक, सेवा, रचनात्मक आदि)	कितने समय?	क्या सीखा ?	किस पुस्तक में क्या पढ़ा ?	लेखा-कार्य क्या किया ?	सुझाव या कठिनाइयाँ	विशेष
१	२	३	४	५	६	७	८

परिशिष्ट २१

बुनियादी शाला का मासिक ब्यौरा

१. शाला का नाम   परगना   जिला

२. शाला में बालकों की कक्षावार संख्या ... ...

३. कक्षावार औसत हाजरी ... ...

४. शिक्षकों की संख्या—

कुल   अनट्रेण्ड   ट्रेण्ड ... ...

५. शाला के दिनों की संख्या ... ...

६. उद्योग व श्रम-कार्य में दिया गया समय ... ...

७. क्रमाङ्क ६ का अनुमानित मूल्य ... ...

८. उद्योग का लेखा— ... ...

कितने विद्यार्थी   कितने घण्टे   कितना कार्य   लागत मूल्य

९. कताई की क्रियाओं की औसत गति ... ...

१०. कच्चा माल— ... ...

गत माह की बचत ... ...

इस माह की आमद ... ...

कुल ... ...

कितना खर्च हुआ ... ...

शेष कितना है ... ...

शेष माल की कीमत ... ...

११. उत्पादन का लेखा—

सिलक तैयार माल व उसकी कीमत ... ...

इस माह का तैयार माल व उसकीकीमत ... ...

कुल ... ...

बिक्री के माल का विवरण व कीमत ... ...

शेष माल की कीमत व मात्रा ... ...

बिक्री का धन जो कोषालय में जमा हुआ ... ...

शेष धन जो सिलक है ... ...